अज्ञात की ओर

आचार्य श्री रजनीश

अज्ञात की ओर

आचार्य श्री रजनीशजी के दो प्रवचन

प्रकाशक :
ईश्वरलाल नाराणजी शाह
मंत्री, जीवन जागृति केन्द्र
अेम्पायर बिल्डिंग
कोट मुंबई-१

●

प्रथम आवृत्ति, प्रत : ३,००० नवम्बर १९६७
पुनर् मुद्रण, प्रत : ३,००० सितम्बर १९६९

●

कीमत : २-००

●

मुद्रक :
मोहन परीख
सुरुचि छापशाळा
बारडोली-२

यह पुस्तक का प्रकाशन
चि. दिनेश की शादी के अवसर पर
श्री लीलावती बचुभाई शाह
श्री बाबुभाई अेन. शाह
के सहयोग से हुआ है।

विज्ञान क्या है?

अज्ञात की खोज।

और धर्म?

धर्म भी है अज्ञात की ही खोज।

विज्ञान उस अज्ञात की खोज है जो कि बाह्य है और धर्म उसकी जो कि आभ्यंतरिक है।

वे दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

वे शत्रु नहीं, मित्र हैं।

और उन दोनों के मिलन और संतुलन में ही मनुष्य का भविष्य है।

●

धर्म और विज्ञान

धर्म और विज्ञान

एक अमावस की गहरी अंधेरी रात्रि की बात है और एक छोटे से गांव की घटना। आधी रात्रि बीत गई थी और सारा गांव नींद में डूबा हुआ था। कुत्ते भी भोंक-भोंककर सो गये थे कि अचानक एक झोंपड़े से ऊठ रही रोने और चिल्लाने की आवाज ने सभी को जगा दिया। अर्धनिद्रित लोग उस झोंपड़े की ओर भागने लगे। बूढ़े और बच्चे सभी उस सोये गांव में एक विक्षिप्त-सी गति आ गई। किसी को कुछ भी समझ में नहीं आ रहा था। फिर भी लोग उस झोंपड़े के आसपास इकट्ठे हो रहे थे। झोंपड़े के भीतर से आवाज आ रही थी: 'आग लगी है। मैं जल रही हूं। मेरा घर जल रहा है।' कुछ लोग तो पानी भरी बाल्टियां लेकर भी आ गये थे। लेकिन झोंपड़े के आसपास आग लगे होने का कोई भी चिह्न नहीं था। आग तो दूर, उस झोंपड़े में एक दिया भी

नहीं था। वह एक अत्यंत गरीब बूढ़ी स्त्री की झोंपड़ी थी। लोगों ने दरवाजे धकाये तो पाया कि खुले ही हुये हैं। कोई भागकर लालटेन ले आया तो भीड़ भीतर गई, बूढ़ी स्त्री जोर जोर से रो रही थी और छाती पीट रही थी, और साथ हीं वह चिल्लाती भी जाती थी, आग लगी है। मेरे घर में आग लगी है। गांव के लोग यह दृश्य देखकर बहुत हैरान हुए, उन्होंने कहा — क्या तुम पागल हो गई हो? आग कहां है? हम जरूर उसे बुझायेंगे, लेकिन वह है कहां? यह सुन वह बूढ़ी रोना बंदकर जोर जोर से हंसने लगी और बोली, मैं पागल नहीं हूं, पागल हो तुम, आग तुम्हारे घरों में लगी है और उसे बुझाने तुम यहां आये हो? जाओ और अपने घरों में आग को खोजो? मेरे भीतर भी आग लगी है। लेकिन उसे तुम कैसे देख सकोगे? और उसे तुम बुझाओगे भी कैसे? उसे तो मुझे ही बुझाना पड़ेगा, भीतर की आग स्वयं ही बुझानी पड़ती है। आग बाहर होती तो तुम जरूर उसे बुझा देते, लेकिन आग तो भीतर है। यह कह बूढ़ी फिर रोने लगी और चिल्लाने लगी, मेरे घर में आग लगी है, मैं जल रही हूं।

मैं भी उस रात्रि उस गांव में उपस्थित था। और

क्या आप भी उपस्थित नहीं थे? शायद आप उस घटना को भूल गये हों, लेकिन मैं नहीं भूला हूं। मैंने आपको देखा था कि आप व्यर्थ ही नींद तोड़े जाने के कारण उस बूढ़ी स्त्री पर नाराज होते हुए वापस जाकर सो गये थे। और सुबह जब आप ऊठे थे तो उस घटना को भूल गये थे। वह पूरा गांव ही भूल गया था। पूरी पृथ्वी ही भूल गई है, उस छोटे से गांव में ही तो सारी मनुष्यता का आवास है।

आप तो सो गये थे, लेकिन मैं फिर नहीं सो सका। उस बूढ़ी औरत ने सदा के लिये ही मेरी नींद तोड़ दी क्योंकि मैंने जब आग खोजने के लिये भीतर झांका तो पाया कि आग तो नहीं थी। नींद थी और वह नींद ही आग थी। जीवन नींद में ही जल रही है, वह निद्रा ही है। दुःख वही है, पीड़ा वही है। अग्नि, लेकिन आप उसे नहीं देख पाये क्योंकि आप पुनः सो गये और सपने देखने लगे। सपने नींद के साथी हैं, वे नींद को नहीं टूटने देते, वे तो अग्नि में घृत की भांति हैं। दुःखद सपने जरूर थोड़ा सा धुआं पैदा करते हैं और करवट लेने को मजबूर कर देते हैं। लेकिन सुखद सपनों की आशा में उन्हें सह लिया जाता है। और वे न हों तो सुखद सपने भी नहीं

हो सकते हैं। क्योंकि उन्हीं की काली पृष्ठभूमि में तो सुखद सपनों की शुभ्र रेखायें उभर पाती हैं। ऐसे सुख और दुःख के सपने दो बैलों की जोड़ी की भांति नींद की गाड़ी को चलाये जाते हैं। और नींद में जीवन खोता है क्योंकि जो सोया है वह जीवित ही कहां है?

और जीवन के दुःख की यह कथा है बहुत पुरानी, मनुष्य जितनी ही पुरानी है यह कथा, लेकिन जो कहता है जीवन जल रहा है, वह पागल प्रतीत होता है और हम उससे पूछते हैं—कहां है आग? और हम पानी भरी बाल्टियां लेकर दौड़ते हैं कि आग को बुझा दें। लेकिन आग बाहर नहीं है इसलिये बाहर ही देखने वाली आंखें उसे नहीं देख पाती हैं और आग बाहर नहीं है इसलिये बाहर का पानी भी उसे कैसे बुझा सकता है?

लेकिन आग चाहे दिखाई पड़ती हो या न पड़ती हो लेकिन जीवन में उसकी जलन तो सभी को अनुभव होती है।

वह है तो जलायेगी तो ही, चाहे हम उसे देखें या न देखें, उसका जलाना हमारे देखने पर निर्भर नहीं है। वस्तुतः तो हम उसे नहीं देखते हैं, इसलिये वह हमें जला पाती है। हमारा न देखना ही उसका होना है, हमारे अंधेपन

में ही तो उसके प्राण हैं। और जब वह जलाती है और मनुष्य उस अदृश्य और अज्ञात अग्नि से झुलसता और पीड़ित होता है। तो बजाय यह खोजने के कि उस अदृश्य अग्नि का मूलस्रोत कहां है, वह पानी की खोज में दौड़ता है, यह पानी की खोज ही संसार है, हम सब पानी की खोज में दौड़ रहे हैं, वह पानी चाहे धन का हो, चाहे यश का चाहे मोक्ष का, पानी की दौड़ का एक अनिवार्य लक्षण है कि वह सदा बाहर होता है, और दूसरा अनिवार्य लक्षण है कि उसे पाने के लिये दौड़ना पड़ता है, क्योंकि जो बाहर है, वह अनिवार्यतः दौड़ाता है। और सबसे बड़ा मजा यह है कि जो पानी के लिये दौड़ता है उसके भीतर की आग और जोर पकड़ती जाती है क्योंकि दौड़ से वह और उत्तप्त होता है। और दोड़ से उसका ज्वर और तीव्र होता है, और फिर जितना वह दौड़ता है, उतनी आग तीव्र होती है और जितनी आग तीव्र होती है। वह उतना ही और दौड़ता है, ऐसे एक दुष्ट चक्र पैदा हो जाता है। क्या इस चक्र का नाम ही संसार नहीं है? और एक तो पानी मिलता नहीं है, क्योंकि अधिक सरोवर मृगमरीचिका सिद्ध होते हैं। और यदि पानी मिल भी जाये तो भी व्यर्थ सिद्ध होता है

क्योंकि बाहर का पानी भीतर की आग को कैसे मिटा सकता है? अर्थात्—जिन्हें पानी मिल जाता है वे और जिन्हें पानी नहीं मिलता; वे अंततः समान ही असफल सिद्ध होते हैं। संसार और असफलता का कहीं भी मिलन नहीं है क्योंकि संसार का दुष्ट चक्र असफल होने को आबद्ध ही है, संसार की असफलता उसकी आंतरिक अनिवार्यता है।

महान् सिकन्दर की मृत्यु हुई। लाखों लोग उसे देखने आये, उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर थे, जो कि रिवाज के एकदम प्रतिकूल था। हाथ सदा सभी देशों में अर्थी के भीतर ही होते हैं, लोग इसका कारण पूछने लगे तो ज्ञान हुआ कि सिकन्दर ने चाहा था कि उसके दोनों हाथ अर्थी के बाहर ही रखे जावें ताकि लोग भलीभांति देख सकें कि उसके हाथ भी खाली ही हैं। वह भी संसार से खाली हाथ ही जा रहा है। काश! सभी मृतकों के हाथ अर्थियों के बाहर रखे जा सकें, ताकि यह सत्य रोजरोज प्रत्येक को दिखाई पड़ने लगे कि संसार और भरे हाथों का कोई भी संबंध नहीं है।

मनुष्य के भीतर जो आग है, वह बाहर के किन्हीं भी उपायों से नहीं बुझ सकती है।

मनुष्य के भीतर जो दुःख है, वह बाहर के किन्हीं भी सुखों से नहीं मिट सकता है।

मनुष्य के भीतर जो अंधकार है, बाहर के कोई भी सूर्य उसे नष्ट करने में असमर्थ हैं।

लेकिन, अब तक यही हुआ है, आग भीतर है और बुझाने की कोशिश बाहर है।

विज्ञान का जन्म इसी कोशिश से हुआ है।

मैं विज्ञान के विरोध में नहीं हूं, मैं तो विज्ञान का मित्र हूं। लेकिन यह जरूर कहना चाहूंगा कि, वह अकेला मनुष्य के जीवन को शांति, आनन्द और अर्थ देने में समर्थ नहीं है और न कभी समर्थ हो ही सकेगा। वह सुविधा दे सकता है और सुविधायें ज्यादा से ज्यादा दुःख के विस्मरण में क्षणिक रूप से सहयोगी हो सकती हैं। लेकिन थोड़े ही समय में सुविधायें स्वीकृत आदतें हो जाती हैं और दुःख अपनी जगह वापस लौट आता है, सुविधाओं से दुःख मिटता नहीं, बस केवल छिपता है। इसीलिये सुविधायें और सुविधाओं की मांग लाती हैं और एक ऐसी दौड़ पैदा होती है जिसका कि कोई अंत नहीं है, और यह दौड़ ही एक तनाव और अशांति तथा दुःख बन जाती है, वह अंतहीन दौड़ ही विक्षिप्तता बन जाती है।

शरीर के तल पर विज्ञान का अर्थ और प्रयोजन है। शरीर के तल पर कष्टों के निवारण में उसकी महती उपादेयता है। क्योंकि कष्ट बाहर हैं, इसलिये बाहर का पानी उन्हें बुझा भी सकता है। मनुष्य के संताप का केन्द्र कष्ट नहीं है। निश्चय ही वे संताप की परिधि हैं, किन्तु केन्द्र तो आंतरिक दुःख ही है। और परिधि पर लाये गये सभी सुख इस दुःख की विस्मृति में भले ही सहयोगी होते हों लेकिन वे इसे मिटा नहीं पाते हैं। वरन् उनके घिराव में इस आंतरिक पीड़ा का बोझ और प्रखर होकर वापस लौटने लगता है, यही तो कारण है कि बाह्य समृद्धि के उठते शिखरों के नीचे आंतरिक दरिद्रता और दैन्य की खाइयां अनिवार्यतः और भी मुंह फाडकर खड़ी हो जाती हैं।

महावीर और बुद्ध को बाह्य सुखों के मध्य में यह दुःख पूर्ण स्पष्ट होकर दीखा हो तो आश्चर्य नहीं है।

लेकिन विज्ञान से आई समृद्धि के कारण क्रमशः पूरी मनुष्यता ही उस बोध के निकट पहुँच रही है।

विज्ञान की प्रगति के साथ एक बड़ा भ्रम भी भंग हो गया है, कि बाह्य समृद्धि आंतरिक संगीत और शांति को जन्म दे सकती है।

विज्ञान के विकास ने ही विज्ञान की सामर्थ्य और असामर्थ्य को सुस्पष्ट कर दिया है।

विज्ञान की सीमा और शक्ति का बोध अब अस्पष्ट नहीं है।

विज्ञान न तो उस अर्थ में व्यर्थ है जैसा कि अंधे धार्मिक लोग सोचते थे और न उस अर्थ में पूर्ण जैसा कि अंधे विज्ञान प्रेमियों की धारणा थी।

असल में अंधापन चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, कभी भी तथ्यों को वैसा ही नहीं देख पाता है जैसे कि वे होते हैं। अंधापन सदा ही तथ्यों पर सिद्धांतों को लादता है। वस्तुतः तथ्यों पर सिद्धांतों को लादना ही तथ्यों को न देखना है। तथ्यों को सीधा देखने से आंखें खुलती हैं और जो ज्ञान उपलब्ध होता है, वह जीवन को बांधता नहीं, बल्कि मुक्त करता है।

जीवन को पूर्वनिर्धारित सिद्धांतों के ढांचे में देखने के कारण ही मनुष्य आज तक खंडित और पंगु रहा है, वह पूरे और समग्र जीवन को नहीं देख पाता है। उसने जीवन को बिना चुनाव के नहीं देखा है। इसलिये जीवन जैसा है; अपनी पूर्णता, समग्रता और अखंडता में वह उसे जानने और जीने से वंचित रहा है।

धर्म के प्रभाव में बाह्य को अस्वीकृत किया गया था और फिर उसके विरोध और प्रतिक्रिया में आंतरिक को अस्वीकृत कर दिया गया था। यह दूसरा अस्वीकार विज्ञान के इर्द-गिर्द इकट्ठा हुआ था। धर्म और विज्ञान ऐसे एक दूसरे के विरोध में खड़े हो गये थे, यह विरोध धर्म और विज्ञान का नहीं, वरन् मनुष्य के चित्त में एक अति के विरोध में पैदा हुई दूसरी अति का विरोध था। मनुष्य का चित्त अतियों में डोलता है। घड़ी के पैन्डुलम की भांति उसकी गति है। एक अति दूसरी अति को जन्म दे देती है। और अतियों में सत्य कभी नहीं होता है। अति सदा ही अधूरी होती है, नहीं तो वह अति ही नहीं हो सकती है। सत्य तो मध्य में है। सत्य तो है वहां, जहां दोनों अतियां शून्य और शांत हैं। अतियों के अतिक्रमण में ही सत्य है।

जीवन न तो एकांततः बाह्य है और न एकांततः आंतरिक ही, जीवन तो दोनों ही हैं या दोनों ही नहीं हैं। जीवन को मात्र आंतरिक में देखने से केन्द्र ही रह जाता है और परिधि खो जाती है जबकि बिना परिधि के कोई केन्द्र कैसे हो सकता है। परिधि है तो ही केन्द्र है, और जीवन को मात्र बाह्य में देखने से केन्द्र खो

जाता है और मात्र परिधि रह जाती है जबकि बिना केन्द्र के परिधि हो ही कैसे सकती है? जीवन तो दोनों में है और इसलिये जीवन किसी एक में ही नहीं है।

विज्ञान बाह्य की खोज है, परिधि की। धर्म आंतरिक की खोज है, केन्द्र की। विज्ञान पदार्थ में प्रवेश है। धर्म परमात्मा में। बाह्य एक आंतरिक विरोध में दिखाई पड़ते हैं किन्तु वस्तुतः वे किसी एक ही सत्य के पहलू हैं, उनका विरोधाभास मनुष्य के शब्दों में ही है, मनुष्य की खंडित दृष्टि ने सभी कुछ खंडित कर डाला है, जबकि जीवन तो एक है और अखंड है।

जीवन आंतरिक और बाह्य की अखंडता है। जो स्वांस भीतर आती है, वही बाहर जाती है, भीतर और बाहर उसकी ही यात्रा के दो बिन्दु हैं। स्वयं स्वांस क्या है? वह आंतरिक है या बाह्य? वह दोनों है और वह दोनों नहीं है, अंतर के बिन्दु से देखने पर वह आंतरिक है और बाह्य के बिन्दु से देखने पर बाह्य और स्वांस के स्वरूप में ही देखने पर वह दोनों है और दोनों नहीं है। ऐसा ही जीवन भी है, वह एक बिन्दु से बाह्य है, एक बिन्दु से आंतरिक और स्वरूप से दोनों नहीं है, बाह्य बिन्दु विज्ञान है, अंतर बिन्दु धर्म। और फिर है जीवन

का स्वरूप उसे तो वही जान पाता है जो अंतर बाह्य से शून्य होता है, क्योंकि सब कणों से, दृष्टियों से बिन्दुओं से जो शून्य हो जाता है, वही जीवन की समग्रता में प्रतिष्ठा पाता है। जब तक दृष्टि है, कोण है, बिन्दु है तब तक खंड है क्योंकि तब मैं कहीं हूं और इसलिये सब कहीं नहीं हो सकता हूं। जहां दृष्टि नहीं है, कोण नहीं है, बिन्दु नहीं है, वहां मैं मी नहीं हूं और तब जो है, बस वही है। वही है सत्य। सत्य कोई दृष्टि नहीं है, वह तो वहां है जहां सब दृष्टियां शून्य हो जाती हैं; दृष्टियां जहां नहीं हैं वहीं उसका दर्शन है, जो कि सत्य है, और सत्य का अनुभव ही वह जल है जो कि जीवन में लगी अग्नि को बुझा सकता है।

लेकिन, मनुष्य जहां स्वयं को सदा पाता है, वह चित्त दशा अंतर और बाह्य में विभाजित है। इस विभाजन पर ही मनुष्य स्वयं को पाता है, उसका अहं बोध ही इस विभाजन के पीछे है, वह है इसलिये यह विभाजन है। यह विभाजन है, इसलिये वह है। इसी अग्नि में तो हम सब खड़े हैं और जल रहे हैं। फिर बाह्य की और जो जाता है, वह पाता है कि विभाजन और तनाव बढ़ता जा रहा है, क्योंकि उसकी परिधि बढ़ती ही जाती है। और केन्द्र दूर से दूर

होता जाता है, इसीलिये विज्ञान का आरंभ तो है लेकिन अंत नहीं, इसलिये विज्ञान एक यात्रा भर है, वह साधन मात्र है, साध्य वह नहीं है। वह चलता है, लेकिन कहीं पहुँचता नहीं है।

धर्म है अंतर की दिशा। शायद वह दिशा नहीं, अदिशा है। क्योंकि दिशायें तो सब बाहर की ओर ही होती हैं।

धर्म है अंतर की ओर गति। लेकिन नहीं, शायद वह गति नहीं, अगति है। क्योंकि गतियां तो सब स्वयं से दूर ही ले जाती हैं।

धर्म है केन्द्र की ओर दृष्टि। लेकिन नहीं, द्रष्टा और दृष्टि और दृश्य का भेद तो है परिधि पर........केन्द्र पर तो ऐसा कोई भेद ही नहीं है।

विज्ञान तो परिभाष्य है, लेकिन फिर धर्म क्या है?

धर्म परिभाष्य नहीं है। जो बाह्य है, उसकी ही परिभाषा हो सकती है। जो आंतरिक है उसकी परिभाषा नहीं हो सकती है।

वस्तुतः जहां से परिभाषा शुरू होती है, वहीं से विज्ञान शुरू हो जाता है, क्योंकि वहीं से बाह्य शुरू हो जाता है।

विज्ञान है शब्द में। धर्म है शून्य में। क्योंकि परिधि है अभिव्यक्ति और केन्द्र है अज्ञात और अदृश्य और अप्रगट। वृक्ष और बीज की भांति ही वे हैं। विज्ञान वृक्ष है, धर्म बीज है।

विज्ञान को जाना जा सकता है, धर्म को जाना नहीं जा सकता, लेकिन धर्म में हुआ जा सकता है और धर्म में जिया जा सकता है।

विज्ञान ज्ञान है, धर्म जीवन है।

इसलिये विज्ञान की शिक्षा हो सकती है, धर्म की कोई शिक्षा नहीं हो सकती है।

विज्ञान है ज्ञात और ज्ञेय की खोज। धर्म है अज्ञात और अज्ञेय में निमज्जन, विज्ञान है पाना, धर्म है मिटना। इसलिये विज्ञान बहुत हैं, लेकिन धर्म एक ही है। इसलिये ही विज्ञान है विकासशील। किन्तु धर्म शाश्वत है।

जीवन की परिधि की ओर जाने से तो केन्द्र से दूर निकल जाते हैं, लेकिन एक बड़ा आश्चर्य है कि जो केन्द्र की ओर जाता है। वह परिधि से दूर नहीं निकलता है, उलटे परिधि और निकट आती जाती है। और ठीक केन्द्र पर पहुँचने पर तो परिधि विलीन ही हो जाती है क्योंकि केन्द्र भी विलीन हो जाता है, परिधि पर परिधि

भी है। और केन्द्र भी है। केन्द्र पर न केन्द्र है न परिधि है। आंतरिक तो अंततः द्वार बन जाता है जो कि न आंतरिक है, न बाह्य है, इसलिये मैं कहता हूं कि विज्ञान का तो धर्म से विरोध हो भी सकता है। लेकिन धर्म का विज्ञान से विरोध असंभव है। बाह्य का आंतरिक से विरोध हो सकता है लेकिन आंतरिक के लिये तो कोई बाह्य है ही नहीं। पुत्र का मां से विरोध हो सकता है लेकिन मां के लिये तो पुत्र का होना उसका स्वयं का होना ही है।

धर्म विज्ञान के विरोध में नहीं हो सकता है, और जो हो वह धर्म नहीं है।

धर्म संसार के विरोध में भी नहीं है, संसार धर्म के विरोध में हो सकता है, लेकिन धर्म संसार के विरोध में नहीं हो सकता है।

धर्म सर्व अविरोध है और इसलिये तो धर्म मुक्ति है। जहां विरोध है वहां बंधन है।

और जहां विरोध है वहां अशांति है, वहां अग्नि है।

वह बूढ़ी स्त्री सही तो चिल्लाती थी। 'मेरा घर जल रहा है। मेरे जीवन में आग लगी है।'

और लोग पहुंचे थे विज्ञान की बाल्टियां लेकर, बाह्य

का जल लेकर, तो वह हंसने लगी थी। वह आज भी हंस रही है क्योंकि जीवन में आग आज भी लगी है, रात्रि आज भी अमावस की है। गांव आज भी सोते से जाग पड़ा है, पडौसी आज भी दौड़े चले आये हैं, लेकिन फिर वे ही बातें पूछ रहे हैं। वे पूछते हैं, आग कहां है? दिखाई तो नहीं देती, बताओ, हम उसे बुझादें, हम पानी की बाल्टियां ले आये हैं। हर रात्रि यही हो रहा है, वही बात हर रात दुहरती है। लेकिन आग है भीतर, और पानी है बाहर का। अब आग बुझे कैसे? आग और बढ़ती ही जाती है और आदमी उसमें झुलसता ही जा रहा है। यह भी हो सकता है कि आग तो न बुझे और आदमी को ही बुझना पड़े। और यह भी हो सकता है कि आग के चरम उत्ताप में आदमी परिवर्तित हो जावे और उसकी नींद टूट जावे और इस आग से वह और भी निखरा हुआ स्वर्ण होकर बाहर निकले। यह स्मरण रहे कि विज्ञान आग को नहीं बुझा सका है, उलटे विज्ञान की सभी खोजें आग को और प्रज्वलित करने में ही सहयोगी हो गई हैं।

विज्ञान के लिये मनुष्य ने कितना श्रम नहीं किया है? अथक खोज से विज्ञान खड़ा हुआ है। लेकिन आग

जहां थी, वहीं है, उसकी लपटें जरूर उसी मात्रा में विशाल हो गई हैं जिस मात्रा में विज्ञान ने मनुष्य के हाथों में शक्ति दे दी है। यह शक्ति उस अग्नि का ईंधन बन गई है।

अज्ञान के हाथों में शक्ति आत्मघाती हो ऊठे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? मुझे तो पिछले दो महायुद्ध मनुष्यता द्वारा सार्वलौकिक आत्मघात की पूर्ण तैयारियां ही मालूम पड़ते हैं। दो महायुद्धों में शायद १० करोड़ लोगों की हत्या हुई है। और तैयारी आगे भी जारी है। तीसरा महायुद्ध होगा अन्तिम।

इसलिये नहीं कि फिर मनुष्य युद्ध नहीं करेगा वरन् इसलिये कि फिर मनुष्य युद्ध करने को बचेगा ही नहीं। ....स्वयं को नष्ट करने की मनुष्यता की आतुरता अकारण भी नहीं है। शायद बाह्य की एकांगी खोज से जो विफलता हाथ आई है, उसके विवाद में ही आत्मघात का यह विराट आयोजन चल रहा है। मनुष्य के हाथ सारी दौड़-धूप के बाद भी खाली के खाली हैं। जीवन ही रिक्त, अर्थहीन और खाली है। सिकन्दर ने मरते समय ही जाना कि उसके हाथ खाली हैं, इसलिये मरने की जिम्मेदारी उसने स्वयं अपने ऊपर नहीं ली। शायद अब मनुष्य ने

जीते जी जो यह जान लिया है, इसलिये वह स्वयं ही अपने को मारने को तैयार है। वह मृत्यु के लिये परमात्मा को भी कष्ट नहीं देना चाहता है। जब हाथ खाली हैं, और आत्मा ही खाली है तो जीने का प्रयोजन ही क्या है—अर्थ ही क्या है—अभिप्राय ही क्या है?

जीवन है अर्थहीन, क्योंकि जीवन से मनुष्य परिचित ही नहीं है।

और जिसे उसने जीवन जाना है, वह निश्चय ही अर्थहीन है, क्योंकि वह जीवन ही नहीं है।

जीवन आंतरिक को खोकर बाह्य की ही दौड़ हो तो निश्चय ही अर्थहीन हो जाता है। क्योंकि तब बच जाती है वस्तुयें और वस्तुयें। आत्मा को बेचकर जो इन वस्तुओं को इकट्ठा कर लेता है, वह अपने ही हाथों अपनी मृत्यु जुटा लेता है।

और बाह्य के विरोध और शत्रुता में जो आंतरिक की ओर चलता है, वह भी पंगु हो जाता है क्योंकि उसका जीवन भी अन्तर्द्वन्द में शांति और संगीत को खो देता है और आत्मा तो केवल उन्हें ही मिलती है जो संगीत में और सौन्दर्य में जीते हैं। बाह्य की शत्रुता एक भांति की कुरूपता पैदा करती है। और बाह्य का विरोध

एक भांति की जड़ता ले आता है। अंतर्द्वन्द अहंकार को तो पुष्ट करता है लेकिन इससे आत्मा उपलब्ध नहीं होती है।

जीवन है बाह्य और अन्तर के मिलन में। जीवन है बाह्य और अंतर के संगीत में। जीवन है बाह्य और अंतर के मध्य में। विरोध से, तनाव से, द्वन्द और दमन से वह उपलब्ध नहीं होता है। वह तो उपलब्ध होता है शांति से, सरलता से, सहजता से। और शांति, सरलता और सहजता आती है सजगता से। सजगता—जीवन के प्रति सजगता—जो है, उसके प्रति सजगता। सजगता यानी अमूर्च्छा। सजगता यानी जागृत-चित्तता। सजगता के आलोक में क्रमशः बाह्य से अंतर की ओर गति होती है। और फिर अन्तर से उसकी ओर गति होती है जो न बाह्य है, न अंतर है, जो कि बस है।

इसलिये मैं कहता हूं कि निद्रा ही, मूर्छा ही, तन्द्रा ही वह अग्नि है, जिसमें जीवन जलता और पीड़ित होता है। और सजगता, अमूर्च्छा, होश ही वह आलोक है, जिसमें जीवन परम जीवन में परिवर्तित होता है। वह शक्ति ही जो कि निद्रा में जलानेवाली अग्नि है, जागरण में जीवन-दायी आलोक बन जाती है।

मनुष्य सजग हो तो उसके हाथों में सारी शक्तियां ही मंगलदायी हैं। क्योंकि मूर्च्छा और बेहोशी के अतिरिक्त और कोई अमंगल नहीं है।

शक्तियां तो सदा ही तटस्थ हैं। और निष्पक्ष हैं। उनसे क्या होगा यह उन पर नहीं, उनके उपयोग करनेवाले मनुष्य पर ही पूर्णतः निर्भर है।

धर्म में प्रतिष्ठित माननीय चेतना के लिये विज्ञान की अग्नि भी आत्मविनाशी नर्क नहीं, वरन् आत्मसृजन स्वर्ग बन सकती है।

धर्म से संयुक्त होकर विज्ञान एक बिलकुल ही अभिनव मनुष्यता का जन्म बन सकता है।

एक बादशाह ने किसी वृद्ध फकीर से पूछा था। 'मैं सुनता हूं कि बहुत सोना बुरा है लेकिन मुझे नींद बहुत आती है। आपकी राय क्या है?' वह वृद्ध फकीर बोला था: 'अच्छे लोगों का सोना बुरा होता है। लेकिन बुरे लोगों का सोना ही अच्छा होता है। क्योंकि वे जितने देर जागे हैं, संसार को उतना नर्क बनाने के लिये श्रमरत रहते हैं।'

शांति के केन्द्र पर शक्ति की परिधि शुभ होती है। किन्तु अशांति के केन्द्र पर तो अशक्ति ही शुभ है।

धर्म के हाथों में विज्ञान शुभ है। किन्तु अधर्म के हाथों में उसे कैसे शुभ माना जा सकता है?

ज्ञान के साथ शक्ति शुभ है। लेकिन अज्ञान और शक्ति का मिलन तो दुर्घटना बनेगा ही! मनुष्य ऐसी ही दुर्घटना में फँस गया है। विज्ञान ने दी है शक्ति। लेकिन वह शांति कहां है जो उसका सम्यक् उपयोग कर सके? शांति नहीं होगी तो होगा विनाश। और शांति होगी तो जीवन के और सृजन के अभूतपूर्व मार्ग प्रशस्त हो सकते हैं।

मनुष्य के बाहर है शक्ति और भीतर है अशांति। गणित बिलकुल सीधा और साफ है? यह संयोग ही संकट है।

अशांत और दुःखी चित्त दूसरों को भी दुःखी और अशांत करने में सुख का अनुभव करता है। दुःखी चित्त के लिये इसके अतिरिक्त और कोई सुख होता ही नहीं है। वस्तुतः जो हमारे पास होता है, उसे ही तो हम दूसरों को दे सकते हैं?

जो दुःखी है, वह दूसरों को देखकर और दुःख में पड़ जाता है। उसका सुख तो यही होता है कि कोई सुख में न हो। यही हो रहा है। यही होता रहा है। और दुःखी,

अशांत और अंधकार से भरे मनुष्य के हाथों में विज्ञान ने ऐसी शक्ति रख दी है जो कि समग्र जीवन का विनाश भी बन सकती है। मनुष्यता को आत्मघात के लिये पूर्ण उपकरण उपलब्ध हो गये हैं। और अब जो महामृत्यु के लिये समारोहपूर्वक तैयारी चल रही है, उसे आकस्मिक नहीं कहा जा सकता है। हम सब किस कार्य में संलग्न हैं? यह विराट श्रम किस दिशा में हो रहा है? हम किसलिये जी रहे हैं और मर रहे हैं? मृत्यु को लाने के लिये........महामृत्यु को लाने के लिये! पहले तथाकथित धार्मिक लोग जीवन से छुटकारे के लिये व्यक्तिगत रूप से श्रम और साधना करते थे। अब विज्ञान ने सामूहिक और सार्वजनिक रूप से जीवन से छुटकारे के लिए द्वार खोल दिये हैं। इस बहती गंगा में कौन हाथ न धो लेना चाहेगा? मृत्यु के इस अद्भुत समारोह में हम सभी एक दूसरे के लिये सहयोगी और साथी हैं! जीवन के लिये जो साथी और सहयोगी नहीं हैं, वे भी एक दूसरे को मृत्यु में भेजने के लिये स्वयं को मिटाने के लिये भी सहर्ष तैयार हैं! अद्भुत है बलिदान की यह भावना, त्याग की यह वृत्ति। जीवन में जो शत्रु हैं, मृत्यु के महायज्ञ में वे सब संगी-साथी हो गये हैं!

क्या मैं कहूं कि मनुष्य विक्षिप्त हो गया है? शायद यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे यह भ्रम पैदा होता है कि जैसे वह पहले स्वस्थ था! मनुष्य तो वैसा ही है, जैसा सदा से था। सिर्फ वे शक्तियां जो पहले उसके हाथ में नहीं थीं, अब उसके हाथ में आ गई हैं और उनने ही उसकी छिपी विक्षिप्तता प्रगट कर दी है। शक्ति और सामर्थ्य पाकर कोई पागल नहीं होता है, बस शक्ति की सुविधा पाकर जो पागलपन अप्रगट होता है, वही प्रगट हो जाता है! मनुष्य की विक्षिप्तता पूरी तरह प्रगट हो गई है। ऐसे इस उद्घाटन के लिए विज्ञान के प्रति कृतज्ञ होना अत्यंत आवश्यक है। मनुष्य के सारे वस्त्र छिन गये हैं, और वह बिलकुल नग्न खड़ा है। इस नग्नता में वह नष्ट भी हो सकता है और एक बिलकुल नये रूप में जन्म भी पा सकता है। स्वयं के समक्ष इस भांति नग्न खड़ा होना चेतना के नये आरोहण के लिये बिलकुल अपरिहार्य जो है। मनुष्य के ऊपर झूठे वस्त्र खतरनाक थे। झूठे वस्त्रों से तो सच्ची नग्नता बेहतर है। क्योंकि झूठे वस्त्र दूसरों को तो धोखा देते ही है, स्वयं को भी धोखा देते हैं। इस आत्मवंचना के कारण ही तो आज तक मनुष्य में कोई मौलिक क्रांति नहीं हो पाई है।

लेकिन अब वह क्षण आ गया है कि हम मनुष्य की विक्षिप्तता को उसके प्रगट रूप में देख सकते हैं। और जो रुग्णता प्रगट हो निश्चय ही, उससे मुक्त होने के लिये कुछ किया जा सकता है।

मनुष्य जाति के ३ हजार वर्षों के छोटे से इतिहास में अनुमानतः १५ हजार युद्ध हुये हैं। प्रतिवर्ष ५ युद्ध! यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है? और ये सब युद्ध भी हुये हैं शांति के लिये! यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है? पृथ्वी ने मनुष्य के आगमन के बाद दो ही प्रकार के कालखंड जाने हैं: युद्ध के कालखंड और युद्ध की तैयारी के कालखंड! शांति का कालखंड तो आज तक जाना ही नहीं गया है क्योंकि दो युद्धों के बीच का जो समय है, वह शांति का नहीं, युद्ध की तैयारी का ही समय होता है। यह विक्षिप्तता नहीं है तो और क्या है? क्या मनुष्य लड़ने के लिये ही जी रहा है? विज्ञान ने जरूर इस रोग को उस चरम स्थिति पर पहुंचा दिया है जहां कि या तो रोगी ही नहीं बचेगा या यदि उसे बचना हो तो फिर रोग को छोड़ना ही होगा चाहे रोग कितना ही पुराना और प्यारा क्यों न हो। रोग भी पुराने होने से प्यारे हो जाते हैं। और परंपरागत होने से उन्हें भी

एक आदृत स्थान प्राप्त हो जाता है। किसी भी चीज का पुराना होना उसके बने रहने के लिये दलील हो जाती है और यह युद्ध की बीमारी तो सबसे ज्यादा पुरानी धरोहर है। यह तो मनुष्य की सबसे ज्यादा गहरी संस्कृति है!

एक कहानी कहना चाहता हूं। कहानी बिलकुल ही झूठी है। लेकिन जो वह कहती है वह एकदम सत्य है—सौ प्रतिशत सत्य है। दूसरे महायुद्ध के बाद की बात है। परमात्मा ने युद्ध में मनुष्य को मनुष्य के साथ जो करते देखा था, उससे वह बहुत चिन्तित था। लेकिन चिन्ता उस दिन उसकी परम हो गई थी, जिस दिन उसके दूतों ने बताया कि मनुष्य जाति अब तीसरे महायुद्ध की तैयारी में संलग्न है! परमात्मा की आंखो में मनुष्य की इस विक्षिप्तता से आंसू आ गये थे और उसने तीन बड़े राष्ट्रों के प्रतिनिधियों को अपने पास बुलवाया था। इंग्लैंड, रूस और अमरीका के प्रतिनिधि बुलाये गये थे। परमात्मा ने उनसे कहा: 'मैं यह सुन रहा हूं कि तुम अब तीसरे महायुद्ध की तैयारी में लग गये हो? क्या दूसरे महायुद्ध से तुमने कोई पाठ नहीं सीखा है?' मैं वहां होता तो कहता कि मनुष्य जाति सदा ही पाठ सीखती रही है!

पहले महायुद्ध से दूसरे महायुद्ध के लिये पाठ सीखा था! अब दूसरे से तीसरे के लिये ज्ञान पाया है! लेकिन मैं वहां नहीं था, और इसलिये जो परमात्मा से नहीं कह सका, वह आपसे कह देता हूं। परमात्मा ने अपनी सदैव की आदत के अनुसार फिर उनसे कहा: 'मैं तुम्हें एक-एक मनचाहा वरदान दे सकता हूं, यदि तुम यह आश्वासन दो कि इस आत्मघाती वृत्ति से बचोगे। दूसरा महायुद्ध ही काफी है। मैं मनुष्य को बनाकर बहुत पछता लिया हूं, अब बुढ़ापे में मुझे और मत सताओ। क्या तुम्हें पता नहीं है कि मनुष्य को बनाकर मैं इतने कष्टों में पड़ गया कि फिर उसके बाद मैंने कुछ भी निर्मित नहीं किया है?'

मैं वहां होता तो कहता: 'हे परमात्मा! यह बिलकुल ही ठीक है। दूध का जला छांछ भी फूंक-फूंक कर पीता है।' लेकिन, मैं वहां नहीं था!

अमरीका के प्रतिनिधि ने कहा: 'हे परम पिता! हमारी कोई बड़ी आकांक्षा नहीं है। एक छोटी सी हमारी कामना है। वह पूरी हो जावे तो तीसरे महायुद्ध की आवश्यकता ही नहीं है।'

परमात्मा क्षण भर को प्रसन्न दिखाई पड़ा था। लेकिन जब अमरीका के प्रतिनिधि ने कहा: 'पृथ्वी तो हो,

लेकिन पृथ्वी पर रूस का कोई नामोनिशान न रह जाय' बस छोटी सी और एकमात्र, यही हमारी कामना है।' तो वह पुनः ऐसा उदास हो गया था जैसा कि मनुष्य को बनाकर भी उदास न हुआ होगा। निश्चय ही मनुष्य अपने बनाये जाने का पूरा-पूरा बदला ले रहा था!

फिर परमात्मा ने रूस की तरफ देखा। रूस के प्रतिनिधि ने कहा: 'कामरेड, पहली बात तो यह कि हम मानते नहीं कि आप हैं। बरसों हुये हमने अपने महान् देश से, आपको सदा के लिये बिदा कर दिया है। वह भ्रम हमने तोड़ दिया है जो कि आप थे। लेकिन नहीं, हम पुनः आपकी पूजा कर सकते हैं, उजड़े और वीरान पड़े चर्चों और मन्दिरों तथा मस्जिदों में फिर आपको रहने की भी आज्ञा दे सकते हैं। पर एक छोटा सा काम आप भी हमारा कर दो। दुनिया के नक्शे पर हम अमरीका के लिये कोई रंग नहीं चाहते हैं। ऐसे यदि यह आपसे न हो सके तो चिन्तित होने की भी कोई बात नहीं। देर अबेर हम स्वयं बिना आपकी सहायता के भी यह कर ही लेंगे। हम बचें या न बचें, लेकिन यह कार्य तो हमें करना ही है। यह तो एक ऐतिहासिक अनिवार्यता है, जिसे कि सर्वहारा के हित में हमें करना ही पड़ेगा।

मनुष्य का भविष्य अमरीका की मृत्यु में ही निहित है।'

और फिर आंसुओं में डूबी आंखों से परमात्मा ने इंग्लैंड की ओर देखा। और इंग्लैंड के प्रतिनिधि ने क्या कहा? क्या आप कल्पना भी कर सकते हैं? नहीं। नहीं........ उसकी कल्पना कोई नहीं कर सकता है। क्योंकि वह बात ही ऐसी अद्वितीय है।

इंग्लैंड के प्रतिनिधि ने कहा: 'हे महाप्रभु.... हमारी आपनी कोई आकांक्षा नहीं है। बस दोनों मित्रों की आकांक्षायें एक ही साथ पूरी कर दी जावें तो हमारी आकांक्षा अपने आप ही पूरी हो जाती है।'

ऐसी स्थिति है।

क्या यह कहानी झूठी है।

लेकिन, इससे सच्ची कहानी और क्या हो सकती है?

और यह किसी एक राष्ट्र की बात नहीं है। सभी राष्ट्रों की बात है। राष्ट्रीयता जहां भी है, वहां युद्ध है। वह ज्वर ही तो अंततः युद्ध लाता है।

और यह राष्ट्रों की ही बात नहीं है। व्यक्ति-व्यक्ति की भी यही बात है। क्योंकि जो ज्वर व्यक्ति-व्यक्ति में न हो, वह राष्ट्रों में भी कैसे हो सकता है? व्यक्ति ही तो है इकाई, उस सबकी जो कि मनुष्य के जगत् में

कहीं भी घटित होता है।

गंगा चाहे प्रेम की हो, चाहे घृणा की; गंगोत्री तो सदा व्यक्ति ही है।

और चाहे जीवन के विराट आकाश में घृणा के ऐसे बादल घिरे हों कि सारी पृथ्वी ही उनसे ढंक गई हो, तो भी व्यक्ति के छोटेसे हृदय में ही खोजना होगा उस मूल उत्स को जहां से क्रोध, घृणा, वैमनस्य, महत्त्वाकांक्षा, दुःख, चिन्ता और संताप के छोटे-छोटे वाष्प खंड धीरे-धीरे उठकर सारे आकाश को घेर लेते हैं। और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति की घृणा और हिंसा की जब मुठभेड़ होती है तो उनमें जोड़ नहीं, गुणन हो जाता है। यह गुणन फैलता ही जाता है और फिर मृत्यु के जो बादल आकाश में छा जाते हैं, वे सब व्यक्तियों की हिन्सा के जोड़ से बहुत ज्यादा होते हैं। लेकिन यह गुणन प्रक्रिया कोई चिन्ता की बात नहीं है क्योंकि जो घृणा के संबंध में भी हो सकता है। पृथ्वी पर ऐसा प्रेम हो सकता है जो कि सभी व्यक्तियों के प्रेम के जोड़ से अनंतगुना ज्यादा हो। उस प्रेम का नाम ही परमात्मा है। लेकिन अभी जो है वह है घृणा का दैत्य। चाहें तो कहें कि यही शैतान है—लेकिन एक बात स्मरण रहे कि न परमात्मा

इससे भिन्न है और न शैतान। वे मनुष्य के ही सृजन हैं। मनुष्य में जो शुभ है, वह प्रभु है। जो सुन्दर है, वह स्वर्ग है। जो अशुभ है, वह नर्क है। मनुष्य स्वयं को जैसा बनाता है, वैसा ही वह जगत् को भी निर्मित करता है। मैं जो हूं, वही जगत् को मेरा दान है। उस दान से ही मैं जगत् को भी निर्मित करता हूं। ऐसे प्रत्येक व्यक्ति सृष्टा है।

यह जानना अत्यंत आवश्यक है कि यह जो कुरूप जगत् है, हिंसा, क्रोध, घृणा और युद्ध का यह जो तांडव चल रहा है, उसमें प्रत्येक व्यक्ति साझेदार है। इसका उत्तरदायित्व प्रत्येक पर है। प्रत्येक इसके लिये उत्तरदायी है। बड़े से बड़े युद्ध के लिये छोटे से छोटा व्यक्ति भी उत्तरदायी है।

क्योंकि, व्यक्ति ही तो फैलकर समाज बन जाता है।

समाज और कहां है?

व्यक्ति ही तो समाज है।

और व्यक्ति है महत्त्वाकांक्षा के ज्वर से ग्रस्त। प्रत्येक कुछ होना चाहता है! और इस कुछ होने की दौड़ में वह भूल ही जाता है उसे जो कि वह है! और आश्चर्यों का आश्चर्य तो यह है कि प्रत्येक केवल वही हो सकता

है जो वह है। स्वयं के अतिरिक्त और अन्यथा होना असंभव है। क्योंकि जो बीज में नहीं है, वह वृक्ष में कैसे हो सकता है? लेकिन प्रत्येक वही होने की दौड़ में है जो वह नहीं है। इससे एक ज्वरग्रस्त जीवन पैदा होता है जो कि अनिवार्यतः हिंसा और विध्वंश में ले जाता है। व्यक्ति जो बीजतः होता है, उसके विकास में न तो दौड़ होती है और न ज्वर होता है और न विक्षिप्तता होती है। उसमें तो एक शांत और मौन और अदृश्य विकास होता है। उसमें तो जो गति होती है, उसकी पगध्वनियां भी कहीं सुनाई पड़ती हैं। लेकिन व्यक्ति जो नहीं है, उसके होने में शोरगुल तो बहुत होता है, और होता कुछ भी नहीं है। यह शोरगुल, यह संघर्ष, यह तनाव, यह अशांति पैदा होती है प्रतिस्पर्धा से। व्यक्ति जो है, वही होने में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती है। वह होता है बस अपने में, अन्य की तुलना में नहीं। वैसे विकास में अन्य की कोई प्रतिभा ही नहीं होती है। इसलिये चित्त कलह से मुक्त शांत गति करता है। शक्ति का संघर्ष में, स्पर्धा में होने वाला अपव्यय बचता है और व्यक्ति शक्ति का संरक्षित सरोवर बन जाता है। शक्ति का, ऊर्ज का यह शांत संचय जीवन को एक ऐसा गत्यात्मक रूप देता है

जिसमें कि गति तो होती है पूर्ण, लेकिन घर्षण शून्य होता है। लेकिन जहां व्यक्ति अन्य की तुलना में जीता है, वहां तो वह जीता ही नहीं है।

जीवन तो है स्वयं में। वह अन्य में नहीं है—अन्य की तुलना में है ईर्ष्या, क्रोध, हिंसा। और वे जीवन नहीं है, वे तो हैं मृत्युयें। इन मृत्युओं में व्यक्ति जीता हो तो जगत् जैसा कुरूप हो गया है, वैसा होना अनिवार्य ही है। और फिर जब सब भांति की महत्त्वाकांक्षाओं और प्रतिस्पर्द्धाओं में जीने के बाद भी आनन्द के द्वार नहीं खुलते हैं और दुःख का नर्क और गहरे से गहरा होता जाता है तो व्यक्ति इस विफलता और विषाद में सारे जगत् से ही प्रतिशोध लेने लगता है। वह हो जाता है विध्वंशक। वह, जो स्वयं को सृजन नहीं कर पाया है, उसके प्रतिशोध में अन्यों का विध्वंश करने लगता है। आत्मसृजन का अभाव विध्वंश और हिंसा बन जाता है। इसीलिये, मैं कहता हूं कि महत्त्वाकांक्षा के आधार पर खड़ा जगत् कभी भी अहिंसक नहीं हो सकता है फिर चाहे यह महत्त्वाकांक्षा संसार की हो या मोक्ष की। जहां महत्त्वाकांक्षा है, वहां हिंसा है। वस्तुतः तो महत्त्वाकांक्षा ही हिंसा है।

और विज्ञान ने महत्त्वाकांक्षी मनुष्य के हाथों में असीम शक्ति दे दी है।

अब यदि धर्म ने मनुष्य के चित्त से महत्त्वाकांक्षा न छीनी तो विनाश सुनिश्चित है।

यह महत्त्वाकांक्षा पैदा ही क्यों होती है और कहां से होती है? महत्त्वाकांक्षा पैदा होती है, हीनता के भाव से। व्यक्ति है स्वयं के अंतस् में अत्यंत दीन-हीन। वहां है सब रिक्त और शून्य। वहां कुछ भी नहीं है। वहां है सब अभाव....सब भांति का खालीपन। इस अभाव, इस रिक्तता से ही वह भागता है। और इस पलायन के लिये ही वह महत्त्वाकांक्षा के लक्ष्य निर्मित करता है, ताकि वे उसे दौड़ने के लिये ज्वर और त्वरा दे सकें। मूलतः वह किसी स्थान के लिये नहीं भागता है, वरन् किसी स्थान से भागता है। लेकिन मात्र किसी स्थान से भागे जाना बिना किसी स्थान के लिये एकदम असंभव है, इसलिये वह लक्ष्य और गन्तव्य निर्धारित करता है। अभाव से पलायन है मूल में, लेकिन प्रगटतः दिखाई पड़ता है कि प्रत्येक व्यक्ति कहीं पहुंचने के लिये दौड़ रहा है। वस्तुतः हम भाग रहे हैं स्वयं से बचने के लिये! लेकिन इस तथ्य को देखना भी दौड़ की हत्या करना है इसलिये

कहीं पहुंचने की, किन्हीं मंजिलों की, किन्हीं आदर्शों की, किन्हीं मोक्षों की हम बातें कर रहे हैं। यह आत्मवंचना बहुत गहरी है और जो इस आत्मवंचना को तोड़ने का साहस नहीं करता है, वह महत्त्वाकांक्षा के ज्वर से कभी स्वस्थ नहीं हो सकता है। उसकी एक महत्त्वाकांक्षा व्यर्थ सिद्ध होगी तो वह दूसरी निर्मित कर लेगा। संसार की महत्त्वाकांक्षायें व्यर्थ होंगी तो वह मोक्ष की, ब्रह्म को पाने की महत्त्वाकांक्षाओं को बना लेगा। संसारी संसार से छूट भी नहीं पाता है कि सन्यासी हो जाता है! और ऐसे महत्त्वाकांक्षा नये वस्त्रों में पुनः वापिस लौट आती है। और क्या महत्त्वाकांक्षा ही संसार नहीं है?

धर्म का जीवन में अवतरण उसी क्षण से होता है, जबसे व्यक्ति अपनी दौड़ के मूल कारण को देखना और पहचानना शुरू करता है। यह सत्य दिखाई पड़ जाना कि महत्त्वाकांक्षा का मूल आंतरिक अभाव से पलायन है, जीवन में एक नयी ही दिशा का उद्घाटन बन जाता है।

स्वयं की आंतरिक रिक्तता से भागना संसार है।

और स्वयं की आंतरिक रिक्तता और शून्य में जागना धर्म। भागना संसार है। जागना धर्म है।

और जो भागता है, वह पाता है कि शून्य बढ़ता

ही जाता है।

और जो जागता है वह पाता है कि शून्य है ही नहीं। निद्रा में जो शून्य प्रतीत होता था, जागृति में वही पूर्ण हो जाता है।

मित्र, भागने से शून्य बढ़ता है क्योंकि हम स्वयं से जितने दूर होते हैं उतने ही रिक्त और शून्य हो जाते हैं। हमारी स्वयं की सत्ता से जो दूरी होती है, वही दूरी हमारी रिक्तता का अनुपात भी है।

यह स्मरण रहे कि मनुष्य में जितना बड़ा सिकन्दर छिपा होता है, उसके हाथ उतने ही खाली होते हैं!

और स्वयं से भागने से शून्य इसलिये भी बढ़ता है कि भागने का मूल है भय। भागना भय की स्वीकृति है। पलायन भय को गले लगा लेना है। और जिसे हम स्वीकार करते हैं और जिसे हम गले लगा लेते हैं, वह बढ़ता ही जाता है। भय भागने से घटता नहीं, बढ़ता है। और भय जितना बढ़ता है, स्वयं का होना उतना ही घटता है। और ऐसे स्वयं की रिक्तता और भी बढ़ जाती और पीड़ादायी हो जाती है।

किन्तु जो स्वयं से भागता नहीं, वरन् स्वयं के प्रति जानता है, वह जीवन के एक बिलकुल दूसरे ही अनुभव

को उपलब्ध होता है। उसके हाथ खाली नहीं रह जाते हैं। उसके प्राण खाली नहीं रह जाते हैं। उसका समग्र जीवन ही एक अनूठी संपदा से भर जाता है।

क्योंकि जो स्वयं के प्रति जागता है, वह पाता है कि वहां तो कोई अभाव ही नहीं है। वहां तो स्वयं परमात्मा है।

अभाव स्वयं में नहीं, स्वयं के प्रति मूर्च्छा में है।

मैं सोया हूं: यही है अभाव। मैं जाग जाऊं तो अभाव वैसे ही नहीं पाया जाता है, जैसे कि सूर्य के निकलते ही अंधकार नहीं पाया जाता है।

क्या आपको ज्ञात है कि एक बार अंधकार ने सूर्य को पत्र खिला था और शिकायत की थी कि आप अकारण ही मेरे पीछे क्यों पड़े हुये हैं?

सूर्य अंधकार के इस पत्र को पाकर बहुत ही हैरान हुआ था। और उसने खबर भिजवाई थी कि मित्र, मैं तो आपको जानता भी नहीं हूं। कभी आवें और मेरा आतिथ्य स्वीकार करें। अनजाने में कोई भूल मुझसे हो गई हो तो मैं प्रत्यक्ष सेवा से क्षमा मांगना चाहता हूं।

किन्तु, इस आमंत्रण को दिये गये अनगिनित सदियां बीत गई हैं और अंधकार आज तक भी सूर्य से मिलने

नहीं आ सका है।

और अब तो सूर्य को संदेह भी होने लगा है कि अन्धकार कहीं है भी या नहीं? वह पत्र जाली भी तो हो सकता था?

मैं जैसे जागता हूं, वैसे ही कोई अभाव नहीं है।

मैं जैसे ही सूर्य बनता हूं, वैसे ही कोई अन्धकार नहीं है।

- और यह मैं जागकर कह रहा हूं। मैं यह सूर्य बनकर कह रहा हूं। मैं यह सब भांति भरा हुआ होकर कह रहा हूं। आओ! और मेरे हाथ देखो! क्या वे भरे हुये नहीं हैं?

और स्मरण रहे कि सूर्य आप भी हो और हाथ आपके भी भरे हुये हैं।

लेकिन, आप आंखें बंद किये हो और सो रहे हो और इस निद्रा के कारण भरे हुये हाथ दिखाई नहीं पड़ रहे हैं और तब उन्हें भरने के लिये हजार-हजार सपने देखे जा रहे हैं।

लेकिन मित्र, क्या वे हाथ कभी भरे जा सकते हैं जो कि खाली ही नहीं हैं?

और क्या उस आंतरिक अभाव को भरा जा सकता

है जो कि है ही नहीं?

इसलिये ही तो मनुष्य की सब दौड़ अनिवार्यतः असफल हो जाती है।

और यह अनिवार्य असफलता ही तो मनुष्य का संताप है।

और फिर जो संताप में है, वह दूसरों को भी संताप देता है। जो दुःख में है वह दुःख बांटता है। मनुष्य जो है, उसे ही बांटने को आबद्ध है, और असमर्थ है। क्योंकि स्वयं को बांटे बिना जिया ही नहीं जा सकता है। फूल सुगंध बांटते हैं क्योंकि वे सुगंध हैं। तारों से प्रकाश बंटता है क्योंकि वे प्रकाश हैं। मनुष्य दुःख बांटता है क्योंकि वह दुःख है। लेकिन मनुष्य आनन्द भी बांट सकता है, क्योंकि वह आनन्द भी हो सकता है।

धर्म आनन्द का द्वार है। क्योंकि धर्म स्वयं के प्रति जागरण है। जो स्वयं के प्रति जागता है, वह पाता है कि वहां अभाव नहीं है और यह साक्षात् आनन्द से भर देता है क्योंकि फिर कुछ पाने को नहीं रह जाता है। वह सब जो भी पाने जैसा है पाया जाता है कि पाया ही हुआ है।

अभाव स्वरूप नहीं है।

स्वरूप है आनन्द। और इसलिये स्वयं के प्रति सचेत होना ही आनन्द को पा लेना है।

और आनन्द मिलते ही आनन्द वितरित होने लगता है।

आनन्द की किरणों को बिखेरता चित्त ही धर्म में प्रतिष्ठित चित्त है। और ऐसे चित्त के हाथों में विज्ञान की शक्ति स्वर्ण में सुगंध है।

विज्ञान और धर्म का ऐसा मिलन चिरप्रतीक्षित है।

मेरे मित्रो! क्या आप वह सेतु बनोगे, जो कि इस सम्मिलन को ला सके? मनुष्य को ही तो सेतु बनना है। प्रत्येक को ही तो सेतु बनना है। क्योंकि ऐसे सेतु से ही धरा पर प्रतीक्षित स्वर्ण युग का अवतरण होगा जो कि अतीत में आकर चला नहीं गया है वरन् भविष्य में हैं और अभी आने को है।

❁

ज्ञात से अज्ञात में सतत् प्रवेश ही विकास है।

और जो इस विकास का सोपान बने वही सम्यक् शिक्षा है।

अज्ञात की दिशायें दो हैं, वाह्य और आंतरिक।

वाह्य यानी विज्ञान।

आंतरिक यानी धर्म।

अकेले विज्ञान की शिक्षा अपूर्ण और अधूरी है।

अकेले धर्म की भी।

दोनों मिलकर ही पूरे बनते हैं।

शिक्षा दोनों के मिलन का सेतु है।

धर्म और शिक्षा

धर्म और शिक्षा

एक फकीर बहुत अकेला था। स्वप्न में उसे परमात्मा के दर्शन हुए तो उसने पाया कि परमात्मा तो उससे भी अकेला है। निश्चय ही वह बहुत हैरान हुआ और उसने भगवान् से पूछाः 'क्या आप भी इतने अकेले हैं? लेकिन आपके तो इतने भक्त हैं, वे सब कहां है?' यह सुन भगवान ने उससे कहा थाः 'मैं तो सदा से अकेला ही हूं और इसलिये ही जो नितान्त अकेले हो जाते हैं वे ही केवल मेरा अनुभव कर पाते हैं। रही भक्तों और तथाकथित धार्मिकों की बात, सो वे मेरे साथ कब थे? उनमें से कोई राम के साथ है, कोई कृष्ण के, कोई मुहम्मद के और कोई महावीर के। उनमें से मेरे साथ तो कोई भी नहीं है। मैं तो सदा का ही अकेला हूं। और इसलिये जो किसी के भी साथ नहीं है........बस अकेला ही है, वही केवल मेरे साथ है।'

वह फकीर आधी रात ही घबराहट में जाग गया था और भागा हुआ मेरे पास आया था। आते ही उसने मुझे उठाया और कहा: 'मेरे इस स्वप्न का क्या अर्थ है?' मैंने कहा: 'स्वप्न होता तो मैं अर्थ भी करता........लेकिन यह तो सत्य ही है। और सत्य का भी क्या अर्थ करना होगा? आंखें खोलो और देखो। धर्म के नाम पर जो हिन्दू है, मुसलमान है, बौद्ध है, या ईसाई, वह धार्मिक ही नहीं है। क्योंकि धर्म तो एक ही है। या जो एक है, वही धर्म है। धार्मिक चित्त के लिए मनुष्य निर्मित सीमायों सत्य नहीं हैं। सत्य के अनुभव में संप्रदाय कहां? शास्त्र कहां........? संगठन कहां? उस असीम में सीमा कहां? उस निःशब्द में सिद्धान्त कहां? उस शून्य में मंदिर कहां........मस्जिद कहां? और फिर जो शेष रह जाता है, वही तो परमात्मा है।'

और, इसके पहिले कि मैं शिक्षा और धर्म पर आपसे कुछ कहूं, यह कह देना अत्यंत आवश्यक है कि धर्म से मेरा अर्थ धर्मों से नहीं। धार्मिक होना हिन्दू और मुसल-मान होने से बहुत अलग बात है। सांप्रदायिक होना धार्मिक होना तो है ही नहीं। उलटे, वही धार्मिक होने में सबसे बड़ी बाधा है। जब तक कोई हिन्दू है या

मुसलमान है, तब तक उसका धार्मिक होना असम्भव है। और जितने लोग धर्म और शिक्षा के लिए विचार करते हैं और जो शिक्षा से धर्म को जोड़ना चाहते हैं, धर्म से उनका अर्थ या तो हिन्दू होता है या मुसलमान होता है या ईसाई। ऐसी धार्मिक शिक्षा धर्म को तो नहीं लायेगी, वह मनुष्य को और अधिक अधार्मिक जरूर बना सकती है। इस तरह की शिक्षा तो कोई चार-पांच हजार वर्ष से मनुष्य को दी जाती रही है। लेकिन उससे कोई बेहतर मनुष्य पैदा नहीं हुआ, उससे कोई अच्छा समाज पैदा नहीं हुआ। लेकिन हिन्दू, मुसलमान और ईसाई के नामों पर जितना अधर्म, जितनी हिंसा और जिताना रक्तपात हुआ है उतना किसी और बात से नहीं हुआ है। यह जानकर बहुत हैरानी होती है कि नास्तिकों के ऊपर, उनके ऊपर जो धर्म के विश्वासी नहीं हैं, बड़े पापों का कोई जिम्मा नहीं है। बड़े पाप उन लोगों के नाम पर हैं जो आस्तिक हैं। नास्तिकों ने न तो कोई मन्दिर जलाये हैं और न लोगों की हत्याएं की हैं। हत्याएं की हैं उन लोगों ने जो आस्तिक हैं। मनुष्य को मनुष्य से विभाजित भी उन लोगों ने किया है जो आस्तिक हैं। जो अपने को धार्मिक समझते हैं उन्होंने ही मनुष्य और मनुष्य के बीच दीवालें खड़ी

की हैं। शब्दों, सिद्धांतों और शात्रों ने मनुष्य को मनुष्य का शत्रु बना दिया है। वादों और पक्षों ने अलंध्य खाइयां खोद दी हैं और मनुष्य जाति को अपने ही हाथों से निर्मित-छोटे छोटे द्वीपों पर कैद कर दिया है। धर्म के नाम पर ऐसी शिक्षा आगे भी दिये चले जाना अत्यंत खतरनाक है। यह शिक्षा न धार्मिक है, न कभी धार्मिक रही है और न आगे ही हो सकती है। क्योंकि ये बातें जिन लोगों को सिखायी गयीं, वे लोग न कोई अच्छे मनुष्य सिद्ध नहीं हुए। और इन बातों के नाम पर जो संघर्ष खड़े हुए उन्होंने मनुष्य के पूरे चित्त को रक्तपात और हिंसा, क्रोध और घृणा से भर दिया है। इसलिए सबसे पहली बात तो मैं यह कहना चाहता हूं कि धर्म की शिक्षा से मेरा प्रयोजन किसी सम्प्रदाय, उसकी धारणाओं उसके सिद्धांतों की शिक्षा से नहीं है। यदि हम चाहते हैं कि शिक्षा और धर्म सम्बन्धित हों, तो हमें चाहना होगा कि हिन्दू, मुसलमान और ईसाई शब्दों से धर्म का सम्बन्ध टूट जाय, तो ही शिक्षा और धर्म सम्बन्धित हो सकते हैं। लेकिन धर्म के नाम पर संप्रदायों का संबंध तो शिक्षा से कभी भी न होना चाहिये। उससे तो अधार्मिक होना ही बेहतर है। क्योंकि अधार्मिक के धार्मिक होने की संभावना

तो सदा ही जीवन्त होती है। जबकि तथाकथित धार्मिक व्यक्ति के चित्त के द्वार तो सदा के लिए ही बंद हो जाते हैं। और जिसके चित्त के द्वार बंद हैं, वह तो धार्मिक कभी हो ही नहीं सकता है। सत्य की खोज में चित्त का मुक्त और खुला हुआ होना तो अत्यंत अनिवार्य है। यदि एक धार्मिक सभ्यता पैदा करना हो, तो वह सभ्यता हिन्दू नहीं होगी, वह सभ्यता मुसलमान भी नहीं हो सकती, वह सभ्यता पूर्व की भी नहीं होगी और वह सभ्यता पश्चिम की भी नहीं होगी। वह सभ्यता अखण्ड मनुष्य की होगी, सबकी होगी और समग्र की होगी। इसलिए एक अंश और एक खण्ड की वह सभ्यता नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक हम मनुष्यता को खण्डित करेंगे, तब तक हम द्वन्द और युद्ध से मुक्त नहीं हो सकते। जब तक मैं और आपके बीच की दीवाल होगी तब तक उसके निर्माण में बहुत कठिनाई है। मनुष्य को मनुष्य से तोड़नेवाली भितियों के रहते हम एक ऐसे समाज को कैसे निर्मित कर सकेंगे, जो प्रेम और आनन्द में जिये? अभी तक हमने जो समाज निर्मित किया है वह तो प्रेम का समाज नहीं है। तीन हजार वर्षों में पन्द्रह हजार युद्ध जमीन पर हुए हैं। तीन हजार वर्षों में पन्द्रह हजार युद्ध! यह कल्पना

भी कितनी अप्रीतिकर है! और केवल तीन हजार वर्षों में पन्द्रह हजार युद्ध अकारण ही नहीं हो सकते हैं? प्रतिवर्ष पांच युद्ध हो रहे हों तो इसका क्या अर्थ है? तीन हजार वर्षों के इतिहास में केवल हमने तीन सौ वर्ष का एक छोटा सा टुकड़ा है, जब युद्ध नहीं हुये हैं। वह भी तीन सौ वर्ष इकट्ठे नहीं—कभी एक दिन, कभी दो दिन, कभी दस दिन, जमीन पर युद्ध बन्द रहा है। ऐसे सब मिलाकर शांति के तीन सौ वर्ष बीते हैं। तीन सौ वर्ष शान्ति और तीन हजार वर्ष युद्ध। निश्चय ही ऐसी शान्ति भी सच्ची नहीं हो सक्ती है। वह भी नाममात्र को ही शान्ति है। अभी भी जो शान्ति चलती है, वह भी झूठी है। वस्तुः जिन्हें हम शान्ति के क्षण कहते हैं वे शान्ति के क्षण नहीं है, बल्कि नये युद्ध की तैयारी के दिन हैं।

मैं तो मनुष्य के आजतक के इतिहास को दो हिस्सों में बांटता हूं—युद्ध का काल और युद्ध की तैयारी का काल। अभी तक शान्ति का कोई काल हमने नहीं जाना है। और ऐसी जो मनुष्य जाति की स्थिति है, उसमें—उसके खंड-खंड में विभाजित होने का आधारभूत हाथ है। और किसने मनुष्य को विभाजित किया है........किसने? क्या

धर्मों ने नहीं? क्या आइडियोलाजी—विचारवाद, सिद्धान्त और संप्रदायों ने नहीं? क्या राष्ट्रों—राष्ट्रीयताओं और सीमित बनाने वाली धारणाओं ने ही नहीं? मनुष्यता को खंड-खंड में तोड़ने वाले धर्म ही हैं। समस्त द्वन्द और कलह के पीछे वाद हैं। फिर चाहे वे वाद धर्म के हों या राजनीति के। वाद-विवाद पैदा करते हैं और विवाद अन्ततः युद्धों में ले जाते हैं। आज भी सोवियत साम्यवाद और अमरीकी लोकतंत्र दो धर्म बनकर खंड हो गये हैं। उनकी भी लड़ाई दो धर्मों की लड़ाई हो गयी है। लेकिन मैं पूछता हूँ कि क्या यह नहीं हो सकता कि हम विचार के आधार पर मनुष्य के विभाजन को समाप्त कर दें? क्या यह उचित है कि विचार जैसी बहुत हवाई चीज के लिये हम मनुष्य की हत्या करें? क्या यह उचित है कि मेरा विचार और आपका विचार, मेरे हृदय और आपके हृदय को शत्रु बना दे? लेकिन अब तक यही हुआ है। और अब तक धर्मों के या राष्ट्रों के नाम पर खड़े हुये संगठन हमारे प्रेम के संगठन नहीं हैं। बल्कि वे हमारी घृणा के संगठन हैं। और इसीलिये आपको ज्ञात होगा कि घृणा का जहर जोर से फैला दिया जाय तो किसी को भी संगठित किया जा सकता है। संभवतः एडोल्फ हिटलर ने कहीं

अ. ओर–४

कहा है कि यदि किसी कौम को संगठित करना हो तो किसी दूसरी कौम के प्रति घृणा पैदा कर देनी आवश्यक है। उसने यह कहा ही हो सो नहीं। उसने यह किया भी और इसे कारगर भी पाया। पृथ्वी को विषाक्त करनेवाले सारे उपद्रवी लोग इसे सदा से ही कारगर पाते रहे हैं। इस्लाम खतरे में है—ऐसा नारा देकर मुसलमानों को इकट्ठा किया जा सकता है, हिन्दू धर्म खतरे में बताया जाये तो हन्दू इकट्ठे हो जाते हैं। खतरा भय पैदा करता है और जिससे भय है उसके प्रति घृणा पैदा हो जाती है। ऐसे सारे संगठन और एकतायें भय और घृणा पर ही खड़ी होती हैं। इसलिये सारे धर्म प्रेम की बातें तो जरूर करते हैं, लेकिन चूंकि उन्हें संगठन चाहिये इसलिए अंततः वे घृणा का ही सहारा लेते हैं। और तब प्रेम कोरी बातचीत रह जाती है और घृणा उनका आधार बन जाती है इसीलिए जिस धर्म की मैं बात कर रहा हूं, वह संगठन नहीं है। वह है साधना। वह है व्यक्ति-व्यक्ति की अनुभूति। भीड़ इकट्ठा करने से उसे प्रयोजन नहीं है। मूलतः धर्मानुभूति तो अत्यंत वैयक्तिक है। और हमारे ये सारे संगठन जिनको हम धर्म कहते हैं किसी की घृणा पर खड़े हुए हैं। और घृणा का धर्म से क्या सम्बन्ध हो सकता है? मेरे और

आपके बीच जो चीज घृणा लाती है वह धर्म नहीं हो सकती है। मेरे और आपके बीच जो प्रेम लाती है वही धर्म हो सकती है। यह स्मरण रखें कि जो चीज मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देती है वह मनुष्य को परमात्मा से कैसे जोड़ सकेगी? मनुष्य को मनुष्य से तोड़ देने वाली कोई बात मनुष्य को परमात्मा से जोड़ने वाली बात कभी भी नहीं बन सकती है। लेकिन जिन्हें हम धर्म कहते हैं वे हमें तोड़ देते हैं। यद्यपि वे सभी प्रेम की बातें करते हैं कि हम सबके बीच एकता, भ्रातृत्व और ब्रदरहुड हो लेकिन बड़ी हैरानी की बात है, उनकी सारी बातें, बातें ही रह जाती हैं और वे जो भी काम करते हैं उससे घृणा फैलती है और शत्रुता फैलती है क्रिश्चियनिटी बातें करती है प्रेम की, लेकिन जितनी हत्या ईसाइयों ने की हैं उतनी हत्या शायद ही किसी ने की हो। इस्लाम शांति का धर्म है लेकिन अशांति लाने का उससे ज्यादा सफल प्रयोग किसने किया है? शायद अच्छी बातें केवल बुरे कामों को छिपाने का मार्ग बन जाती हैं। यदि लोगों को मारना हो तो प्रेम के नाम पर मारना बहुत आसान है। अगर हिंसा करनी हो तो अहिंसा की रक्षा के लिए हिंसा करना बहुत आसान है और अगर मुझे आपकी जान

लेनी हो तो आपके ही हित में ऐसा करना आसान होगा क्योंकि तब आप मरेंगे भी और मैं दोषी भी नहीं होऊंगा! तब आप मरेंगे भी, मारे भी जायेंगे और शिकायत भी नहीं कर सकेंगे। कहते हैं कि मनुष्य बुद्धिवाला प्राणी है, इसीलिए स्वभावतः वह हर कार्य के लिये कोई न कोई बुद्धिमत्ता का मार्ग खोज ही लेता है। संभवतः शैतान ने मनुष्य को बहुत पहले यह समझा दिया है कि अगर कोई बुरा काम करना हो तो नारा अच्छा चुनना। जितना बुरा काम हो उतना अच्छा नारा होना चाहिए तो बुरा काम छिप जाता है। यह जो धर्मों के नाम पर संगठन हैं न तो उनका परमात्मा से कोई सम्बन्ध है और न प्रेम से, न प्रार्थना से, न धर्म से। हमारे भीतर वह जो घृणा है, ईर्ष्या है, सब उसी का संगठन है। अन्यथा यह कैसे हो सकता है कि मस्जिदें तोड़ी जायं, मन्दिर जलाये जायं, मूर्तियां तोड़ी जायं और आदमी मारा जाय? यह सब कैसे हो सकता है? लेकिन यह हुआ है, होता रहा है और हो रहा है! यह सब धर्म है तो मैं पूछता हूं कि फिर अधर्म क्या है?

सांप्रदायिक चित्तता धर्म नहीं है। वह तो अधर्म का ही प्रच्छन्न रूप है। इसीलिए धार्मिक शिक्षा के लिए

पहली शर्त है धर्म की संप्रदायों से पूर्णमुक्ति। लेकिन तथाकथित धार्मिक लोग बच्चों को जो कुछ पिलाना चाहते हैं, वह धर्म की आड़ में सांप्रदायिक विष ही है। और ऐसा वे क्यों करना चाहते हैं? धर्म में उनकी इतनी उत्सुकता क्यों है? क्या वस्तुतः वे धर्म में उत्सुक हैं? नहीं। बिलकुल नहीं, धर्म में नहीं। उनकी उत्सुकता 'उनके' धर्म में है। और यह उत्सुकता ही अधार्मिक है। क्योंकि, धर्म जहां 'मेरा' और 'तेरा' है वहीं वह धर्म नहीं है। धर्म तो वहां है जहां न 'मेरा' है न 'तेरा' है। वहीं वह प्रारंभ है, जो कि परमात्मा का है।

धार्मिक कहे जानेवाले लोगों का धर्म की शिक्षा में, उत्सुकता में कुछ और ही स्वार्थ है। उस स्वार्थ की गहरी और पुरानी जड़ें हैं! उन पर ही बहुत प्रकार का शोषण निर्भर है। क्योंकि यदि नई पीढ़ियां उन घेरों के बाहर हो गईं जिनमें कि अब तक मनुष्य को कैद रखा गया है, तो समाज के जीवन में अेक आमूल क्रांति संभावित है। उस क्रांति के चतुर्मुखी परिणाम होंगे। उसमें सभी प्रकार के न्यस्त स्वार्थों को चोट पहुंचेगी और जो केवल मनुष्य को मनुष्य से लड़ाकर जीते हैं, उनकी तो आजिविका ही छिन जायेगी। और वे सारे लोग भी बेकार हो जावेंगे जिन्होंने

कि धर्मों के जाल को ही अपना व्यवसाय बनाया हुआ है। फिर वर्गीय शोषण और स्वार्थ भी असुरक्षित हो जावेंगे क्योंकि तथाकथित धर्मों ने अनेक रूपों में उन्हें सुरक्षा दी है।

धर्म शिक्षा की आड़ में पुरानी पीढ़ी अपने अज्ञान, अपने अंधविश्वास, अपनी जड़ता, अपने रोग और शत्रुतायें —सभी नई पीढ़ियों को दे जाना चाहती है। ऐसे उसके अहंकार की तृप्ति होती है। यही अहंकार रुग्ण घेरों से मनुष्य को मुक्त नहीं होने देता है। विकास के मार्ग में इससे बड़ी और कोई बाधा नहीं है। क्योंकि विकास तो वहीं है, जहां विद्रोह है। और विद्रोह को पुरानी पीढ़ी का अहंकार स्वीकार नहीं कर पाता है वह तो चाहता है, विश्वास, आज्ञानुपालन और अनुशासन। इसी में वह नयी पीढ़ी को दीक्षित करता है और उसके भीतर से उन सभी संभावनाओं को नष्ट कर देना चाहता है, जो कि उसे पुराने के त्याग और नये के अनुसन्धान में प्रवृत्त कर सकती है। लेकिन यह भ्रूणहत्या अत्यंत ही अप्रगट और परोक्ष रूप से की जाती है। शायद करने वाले भी उसकी संपूर्णता से परिचित नहीं होते हैं। यह एक अचेतन प्रक्रिया ही है! क्योंकि उनके पिता और गुरु की पीढ़ी ने भी उनके साथ यही किया था। और अनजाने

ही वे भी अपने बेटों और शिष्यों की पीढ़ी के साथ यही करते रहते हैं। यह दुष्टचक्र बहुत पुराना है। लेकिन इसे तोड़ना है क्योंकि यही जीवन को धर्म के सत्य से संयुक्त नहीं होने दे रहा है। इस दुष्टचक्र का केन्द्र क्या है? केन्द्र है विचार के जागरण के पूर्व ही विश्वास के बीज नन्हें बच्चों में डाल देना। क्योंकि विश्वासी चित्त फिर विचार करने में असमर्थ हो जाता है। विश्वास और विचार की दिशायें विरोधी हैं। विश्वास है अन्धापन। और विचार है स्वयं की आंखों को पा लेना। बच्चों को विश्वास के अन्धेपन से भरकर उनकी स्वयं की आंखों से उन्हें सदा के लिये वंचित किया जाता रहा है। और इस अमंगलकारी कृत्य के लिये ही तथाकथित धार्मिक लोग धर्म की शिक्षा दिलाने के लिये इतने उत्सुक हैं। यह उत्सुकता शुभ नहीं है। वस्तुतः तो विचार की हत्या से बड़ा कोई पाप नहीं है। लेकिन बच्चों के साथ मां-बाप निरंतर ही यह पाप करते रहे हैं और यही वह आधारभूत कारण है, जिसके कारण कि धर्म का जन्म नहीं हो पाया है। विश्वास नहीं, सिखाना है विचार। श्रद्धा नहीं, सिखाना है सम्यक् तर्क। और तब धर्म एक अन्धविश्वास नहीं वरन् बन जाता है परम विज्ञान, और ऐसे विज्ञान से ही शिक्षा

का सम्बन्ध शुभ हो सकता है। अंधविश्वासों से नहीं, वरन् विचार और विवेक की कसौटी पर कसे हुये वैज्ञानिक सत्यों से ही मनुष्य का मंगल हो सकता है।

क्या आपको यह ज्ञात नहीं है कि विश्वास के अंधेरे में जीने वाले लोग धीरे-धीरे विचार के आलोक में आने में असमर्थ ही हो जाते हैं? फिर उनकी आंखें अंधेरे के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख पाती हैं। और स्वयं को कहीं अंधा न मानना पड़े इसलिये वे अपने बच्चों को भी अंधेरे में ही दीक्षित कर देते हैं। ऐसे स्वयं को ही ठीक मानने की सुविधा उन्हें हो जाती है! और जब कभी कोई बच्चा किसी भांति उनके सामूहिक षड्यंत्र से स्वयं की आंखों को बचाने में समर्थ हो जाता है तो सर्वविदित ही है कि वे उसके साथ क्या करते हैं? वही जो वे सुकरात के साथ करते हैं, या क्राइस्त के साथ करते हैं।

इसलिये, धर्म की शिक्षा के सम्बन्ध में सोचते हुये यह ध्यान में रखना अति आवश्यक है कि कहीं हम आलोक के नाम पर अंधेरे की ही दीक्षा तो नहीं दे रहे हैं? स्मरण रहे कि आंखें देने के नाम पर आज तक आंखें फोड़ी ही जाती रही हैं।

विश्वास मात्र अज्ञान है। और विश्वास मात्र अंधकार

है। इसीलिए बच्चों को विश्वासों से बचाना है। और यह बचाव तभी हो सकता है, जबकि उनमें विचार की तीव्र क्षमता हो। इसलिए उनमें विचार की शक्ति जाग्रत करें। उन्हें विचार करना सिखायें। विचार न दें, विचार की शक्ति दें। क्योंकि विचार देना तो विश्वास देना ही है। विचार तो आपके हैं। लेकिन विचार की शक्ति उनकी स्वयं की है। वह शक्ति ही विकसित करनी है। उसका पूर्णतम विकास ही उन्हें जीवन के सत्य के उद्घाटन में समर्थ बनाता है।

विचार मार्ग है। विश्वास भटकाव है।

इसीलिये मैं कहता हूं जो कहीं भी विश्वास से बंधा है वह सोच नहीं सकता है। जो हिन्दू है, वह नहीं सोच सकता है। जो जैन है, वह नहीं सोच सकता है। जो कम्युनिष्ट है, वह नहीं सोच सकता है। उसका विश्वास ही उसका बंधन है। चूंकि सोचने में विश्वास टूट भी सकता है, इसलिए विश्वासी न सोचने को ही वरण कर लेता है। वह उसका सुरक्षा—कवच बन जाता है। लेकिन वह सुरक्षा—कवच वस्तुतः तो आत्महत्या ही है। क्या विश्वास विचार की हत्या नहीं है?

लेकिन, यह हत्या जाने—अनजाने की जाती रही है।

हिन्दू बाप अपने बच्चे को हिन्दू बनाना चाहता है, मुसलमान बाप मुसलमान। और यह भी तब जबकि बच्चा छोटा है और स्वयं सोचने-समझने में असहाय है। यह दुष्कार्य इसी समय ही किया भी जा सकता है, बाद में फिर यह करना अति कठिन है। जहां विचार और तर्क का जन्म हो चूका हो फिर आंखों में धूल नहीं झोंकी जा सकती है। तर्क की शक्ति व्यक्ति की आत्मरक्षा बन जाती है। इसलिए तथाकथित धार्मिक व्यक्ति तर्कता के विरोध में हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। वस्तुतः तो वे बुद्धिमात्र के विरोध में हैं। क्योंकि जहां बुद्धि है, विचार है, तर्क है, वहां विद्रोह है। विद्रोह यानी जीवन के नये रास्तों की खोज। विद्रोह यानी ज्ञात से अज्ञात की यात्रा। विद्रोह यानी उन सीमा-रेखाओं का अतिक्रमण जहां कि प्रत्येक पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी को छोड़ जाती है।

मेरे देखे तो विद्रोह की क्षमता धार्मिक चित्त की आत्मा है। क्योंकि धर्म से बड़ी कोई और क्रांति नहीं है। धर्म तो जीवन का आमूल परिवर्तन है। वह तो जड़-मूल से रूपांतरण है। इसलिये धर्म की शिक्षा अबुद्धि और अंधेपन की शिक्षा नहीं हो सकती है। वह तो गहरे से गहरी विचारणा की शिक्षा है। वह तो तीव्रतम तर्क है। वह तो ज्वलंत बुद्धिमत्ता

है। और इसलिए अबोध बच्चों को बुद्धि विरोधी मान्यताओं और धारणाओं से नहीं बांधना है। बल्कि उनकी बुद्धि को इतनी तीव्रता और गहराई देनी है कि वे सदा अपने विचार को जाग्रत और स्वतंत्र रख सकें और किसी भी मूल्य पर कभी उसे बेचने और बांधने को राजी न हों। ऐसी स्वतंत्र चेतनायें ही उस द्वार को खोल पाती हैं जो कि सत्य का है।

स्वतंत्रता ही तो वस्तुतः सत्य का द्वार है।

इसलिए, बच्चों को स्वतंत्रता दें—स्वतंत्रता का सम्मान उनके मन में जगावें और परतंत्रता के प्रति—मन और चेतना की सभी प्रकार की दासताओं के प्रति उन्हें सचेत और सावधान करें। धर्म की शिक्षा—वास्तविक धर्म की शिक्षा यही हो सकती है।

लेकिन धर्मों की शिक्षा ऐसी नहीं है। वह तो ठीक इसके विपरीत है। वह तो दासता का ही प्रशिक्षण है। क्योंकि वह विचार की नहीं, विश्वास की पोषक है। वह आंखों की नहीं, अंधेपन की ही समर्थक है। क्योंकि वह आत्मचेतना पर नहीं, वरन् परानुगमन पर ही आधृत है।

धर्मों को विचार से इतना भय क्यों है? निश्चय ही वह भय अकारण नहीं है। उसके लिए बहुत ठोस कारण हैं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण तो यही है कि यदि विचार

जाग्रत और सक्रिय हों तो बहुत दिनों तक बहुत धर्म नहीं रह सकते हैं। धर्म तो बचेगा लेकिन धर्मों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाना सुनिश्चित है। क्योंकि विचार की सहज प्रवृत्ति सार्वलौकिक, यूनिवर्सल, सत्य की ओर है। जैसे नदियें सागर की ओर बहती हैं ऐसे ही विचार भी सार्वलौकिकता की ओर प्रवाहित होता है। विचार के निष्पक्ष अन्वेषण में जो सत्य है अन्ततः वही शेष रह जाता है। और सत्य अनेक नहीं हो सकते हैं। सत्य तो सदा एक है। विज्ञान ने विचार का अनुसरण किया इसीलिये हिन्दू का और ईसाई का गणित अलग-अलग नहीं है। नहीं तो विश्वास के आधार पर तो उनके एक होने की कोई संभावना ही नहीं थी। विश्वास के डबरे बहना बन्द कर देते हैं। वे अपने आप में बंद हो जाते हैं। सागर की ओर उनकी गति न होने से वे कभी एक तक नहीं पहुंच पाते हैं। स्वयं में बंद होने से ही वे अनेक हो जाते हैं। विचार है प्रवाह। विश्वास है कुंठा। विचार निरन्तर ही स्वयं का अतिक्रमण है। विश्वास है स्वयं में बंद होना। इसलिए विचार कहीं से भी प्रारम्भ हो अन्ततः केन्द्रीय और आत्यंतिक सत्य तक ले जाता है। और विश्वास सदा ही वहां तक पहुंचने से रोक लेता है।

मैंने सुना है कि जैन भूगोल जैसी चीजों का भी अस्तित्व रहा है! और धर्मों में ऐसी हास्यास्पद बातें रही हैं। क्या भूगोल भी अलग-अलग हो सकते हैं? जी हां, हो सकते हैं, यदि विश्वास उनका आधार हो। विचार जहां नहीं है, वहां है कल्पना, अनुसरण, अंधविश्वास, और ये तो प्रत्येक व्यक्ति के अलग-अलग हो सकते हैं। सत्य तो एक है, लेकिन स्वप्न तो प्रत्येक के अलग-अलग ही होते हैं। यदि दो व्यक्ति चाहें तो भी एक ही स्वप्न को साथ-साथ नहीं देख सकते हैं।

सत्य सदा ही सार्वजनीन है। क्योंकि वह स्वयं में है। वह किसी की कल्पना, स्वप्न या अनुमान नहीं है। उसे पाने के लिए व्यक्ति के पास पात्रता चाहिए। उसे देख पाने के लिए खुली और स्वस्थ आंखें चाहिए। और विचार की पूर्णता पर—विवेक के प्रकाश में ही ऐसी आंखें उपलब्ध होती हैं।

इसलिए मैं बार बार कह रहा हूं कि बच्चों को सत्य देना है तो विचार दो। विश्वास से मुक्त करो और विवेक दो। विचार की जागृत ऊर्जा ही बनेगी उनकी पात्रता। वही बनेगी उनका दर्शन। वही उन्हें ले जायेगी सत्य के उस सागर तक जो कि एक है और अद्वय है।

क्या आपको ज्ञात है कि अरस्तू जैसे व्यक्ति ने भी लिखा है कि स्त्रियों के दांत पुरुषों से कम होते हैं? यह वह कैसे लिख सका? क्या कोई स्त्री उसे उपलब्ध न थी कि वह उसके दांत गिन सकता? स्त्रियों की क्या कमी है, लेकिन उसने तो बस प्रचलित धारणा पर विश्वास कर लिया और तब खोज का प्रश्न ही न रहा। ऐसे उसकी ही एक नहीं, दो–दो पत्नियां थीं। और नं. १ या नं २ श्रीमती अरस्तू से वह मुंह खोलने को कह सकता था और दांत गिन सकता था। लेकिन नहीं, उसने संदेह ही नहीं किया; तो विचार कैसे करता? और पुरुषों की इस अंधी धारणा को उसने चुपचाप मान लिया कि स्त्रियों के दांत पुरुषों से कम होते हैं। असल में पुरुषों का अहंकार यह बात मानने को कभी राजी ही नहीं रहा है कि स्त्रियां किसी भी बात में उसके बराबर हो सकती हैं। फिर चाहे यह सवाल दांतों का ही क्यों न हो? और जब अरस्तू ने ही संदेह न किया तो और कौन संदेह करता? जबकि संदेह समस्त खोज का प्रारम्भ है।

सम्यक् संदेह सत्य की खोज में सिखाई जाने वाली पहली सीढ़ी है। धर्म की शिक्षा का शुभारम्भ इससे ही होना चाहिए। श्रद्धा नहीं, सन्देह ही धर्म का वास्तविक

आधार है। संदेह आरम्भ है, श्रद्धा तो अन्त है। संदेह खोज है, श्रद्धा तो प्राप्ति है। इसलिए जो संदेह से प्रारंभ करता है, वह तो कभी न कभी श्रद्धा पर पहुंच ही जाता है। लेकिन जो श्रद्धा से प्रारंभ करता है, वह तो कभी भी कहीं नहीं पहुंचता है। उसके पहुंचने का सवाल भी नहीं है। क्योंकि उसने तो बैलों के आगे गाड़ी बांध रखी है। प्रारंभ ही से प्रारंभ संभव है। अन्त आरंभ कैसे बन सकता है?

जहां संदेह नहीं है, वहां विचार नहीं है।

जहां विचार नहीं है, वहां विवेक नहीं है।

और जहां विवेक नहीं है, वहां सत्य नहीं है।

धर्मों ने सिखाया है विश्वास करो, संदेह नहीं। खोजो नहीं, मानो। लेकिन धर्म सिखायेगा संदेह करो, विचार करो और खोजो। क्योंकि ऐसी स्वयं की खोज से ही जो पाया जाता है, वही स्वयं को बदलता है और वही सत्य है।

सत्य एक खोज है—सतत् खोज। वह अत्यंत जागरूक अन्वेषण है।

सत्य कोई अन्य किसी को नहीं दे सकता है। उसे तो वह स्वयं ही पाना होता है।

सत्य उधार नहीं मिल सकता है। वह तो स्वयं का साकार हुआ श्रम ही है।

और, ऐसे सत्य की खोच की तैयारी ही धर्म की शिक्षा है।

इसलिए, जब तक धर्म का सम्बन्ध विश्वास से है तब तक धर्म की कोई शिक्षा नहीं हो सकती है। और धर्म का नाम भले लिया जाय, वह हिन्दू की शिक्षा होगी या मुसलमान की या ईसाई की। ऐसी शिक्षा धार्मिक नहीं है क्योंकि इस तरह के शिक्षित व्यक्ति संकीर्ण हो जाते हैं। इस भांति हृदय विराट नहीं बनते हैं। और इस तरह से शिक्षित व्यक्ति पक्षपातों से भर जाता है। और विवेक उसका मुक्त नहीं होता, बल्कि मृत होता है। वह चित्त से बूढ़ा हो जाता है। जबकि किसी भी खोज के लिए चित्त युवा और ताजा चाहिए। और युवा तो वही है जो पक्षपातों से मुक्त है। और युवा तो वही है जो कि अपनी चेतना को संस्कारों की कारा में बंधने से बचा सका है। संस्कारित चित्त बूढ़ा हो जाता है। वह जितना संस्कारित होता है, उतना ही जड़ हो जाता है। संस्कार धर्म नहीं है। संस्कार मात्र से मुक्त और अतीत चेतना ही धर्म में प्रवेश करती है। धर्म तो स्वभाव है।

धम तो स्वरूप है। और संस्कार आते हैं बाहर से। वे बाह्य हैं। जैसे धूल दर्पण को ढांक लेती है, ऐसे ही वे भी चेतना को ढांक लेते हैं। चेतना के दर्पण को धर्म के नाम पर परम्पराओं, संस्कारों, रूढ़ियों, मान्यताओं और आदर्शों से ढांक नहीं देना है। वरन् उसे मुक्त होना सिखाना है। धर्म की वास्तविक शिक्षा और साधना मुक्ति की ऐसी दिशा में ही अग्रसर करती है। चित्त को समस्त ग्रंथियों से मुक्ति की ओर ले जाने वाला उपाय धर्म ही है। लेकिन बाजार में जो धर्म बिकता है, यह यह नहीं कर सकता है। और इसलिए इसके पूर्व कि शिक्षा में धर्म आये, धर्म को पुराने वस्त्र और आवास छोड़ देने होंगे। वह एक नयी आत्मा लेकर ही नयी पीढ़ियों की आत्मा बन सकता है। धर्म को जीवन में लाना है। जरूर ही लाना है। उसके बिना जीवन अत्यंत पंगु, अधूरा और असन्तुलित है। केवल बाह्य के सम्बन्ध में ही हम चिंतन करेंगे तो आंतरिक रिक्त रह ही जायेगा। और केवल पदार्थ पर ही हमारी दृष्टि रही तो परमात्मा से हम वंचित रह ही जावेंगे। और यह सौदा बहुत महंगा है। यह कौड़ियों के लिए हीरों को खो देना है। बाह्य आंतरिक के समक्ष क्या है? जगत की संपदा उस संपदा

के समक्ष क्या है जो कि परमात्मा की है? उसे तो जानना ही है जो कि समस्त का केन्द्र और प्राण है। और उसकी खोज को केन्द्रीय भी बनाना है। क्योंकि केन्द्र की खोज केन्द्रीय बनाये बिना कभी पूरा नहीं किया जा सकता है। इसलिए मैं तो धर्म को शिक्षा से मात्र संबंधित ही नहीं देखना चाहता हूं, क्योंकि वह अपर्याप्त है। मैं तो धर्म को शिक्षा का केन्द्र बना हुआ देखना चाहता हूं। क्योंकि जो जीवन का केन्द्र है, वह शिक्षा का केन्द्र भी हो यह अत्यंत आवश्यक है। दृश्य पर ही जीवन समाप्त नहीं है। वस्तुतः तो अदृश्य ही आधार है। उससे परिचित हुये बिना जीवन में न तो अर्थ होता है, न अभिप्राय। और जहां अर्थ ही नहीं है, वहां आनंद कहां? आनंद तो अर्थकता की उपलब्धि में ही है। विज्ञान उपयोगिता की खोज है। धर्म अर्थ की। विज्ञान अधूरा है और धर्म भी अधूरा है। उन दोनों के सन्तुलन और समन्वय में ही मंगल है और पूर्णता है।

एक जगत् मनुष्य के बाहर है। लेकिन वही सब कुछ नहीं है। एक जगत् भीतर भी है। और बाहर की खोज भीतर के लिए ही है। बाहर की खोज में भीतर को नहीं भूल जाना है। क्योंकि तब शक्ति तो आती है,

लेकिन शांति नहीं। और सम्पदा तो मिलती है लेकिन आत्मा खो जाती है। और आत्मा को खोकर सारे जगत् को पा लेने का भी क्या मूल्य है? वह तो जीतकर भी हार जाना है।

एक फकीर स्त्री थी, राबिया। एक दिन सुबह सुबह ही उसके एक मित्र ने उससे कहा: 'राबिया बाहर आओ। बहुत सुंदर सूरज उग रहा है, बड़ी सुंदर सुबह है। आओ — बाहर आओ।' राबिया ने उत्तर में कहा: 'मेरे मित्र तुम्हें आमंत्रण देती हूं कि तुम्हीं भीतर आ जाओ। क्योंकि, तुम जिस सूरज को देख रहे हो और जिस सुबह को, मैं उसके बनाने वाले को भीतर देख रही हूं। क्या यह अच्छा न होगा कि तुम्हीं भीतर आ जाओ? मैंने तो बाहर का सौन्दर्य भली भांति देखा है, लेकिन तुम शायद उससे अपरिचित ही हो, जो कि भीतर है।'

एक बाहर की दुनिया है। निश्चित ही बहुत सुंदर है वह और वे लोग नासमझ हैं जो बाहर की दुनिया के विरोध में मनुष्य को खड़ा करना चाहते हैं। बहुत सुंदर है बाहर की दुनिया। और वे लोग मनुष्य के मंगल के विरोध में हैं जो कि उस दुनिया की निन्दा करते हैं। वह सच में ही बहुत सुंदर है। वह तो सुंदर

है लेकिन एक और बड़ी दुनिया भी भीतर है। और उसके सौन्दर्य की कोई सीमा ही नहीं है। और बाहर की दुनिया पर ही जो रुक जाता है वह अधूरे पर ही रुक जाता है। उसने बहुत जल्दी ही पड़ाव डाल लिया है। वह मार्ग को ही मंजिल समझ गया है। वह द्वार को ही महल समझ गया है और सीढ़ियों पर रुक गया है। उसे जगाना है। उसे चेताना है। उसकी आंखें उस ओर उठानी हैं, जहां कि मंजिल है। और फिर तो वह स्वयं ही चल पड़ेगा। बच्चों को मंजिल का यह बोध सदा बना रहे, और वे बीच में ही न ठहर जावें यही धर्म शिक्षा का लक्ष्य है।

यह जानना जरूरी है कि विज्ञान जो बाहर है केवल उसकी ही खोज है। और अकेली बाहर की खोज अधूरी है। भीतर की खोज से शिक्षा जरूर ही सम्बन्धित होनी चाहिए। लेकिन जिन धर्मों को हम जानते हैं उनकी खोज भी भीतर की खोज नहीं है। वे बातें तो आंतरिक की करते हैं लेकिन वे बातें एकदम झूठी मालूम पड़ती हैं। क्योंकि उनके मंदिर भी बाहर ही बनते हैं और उनकी मस्जिदें भी बाहर ही बनती हैं और उनकी मूर्तियां भी बाहर ही खड़ी होती हैं। उनके शास्त्र भी बाहर हैं और

उनके सिद्धान्त भी बाहर हैं और इन बाहर की चीजों पर वे लड़ते भी देखे जाते हैं। उनका आग्रह भी बाहर पर ही है। और इसलिए वे भी मनुष्य को भीतर नहीं ले जाते हैं।

एक नीग्रो एक चर्च के द्वार पर एक दिन सुबह-सुबह गया और उसने प्रार्थना की उस चर्च के पुरोहित से कि मुझे भीतर जाने दो। लेकिन नीग्रो, काली चमड़ी का आदमी, सफेद चमड़ी वाले लोगों के मंदिर में कैसे जा सकता था? ये जो भीतर की बातें करते हैं वे भी चमड़ी को देखते हैं कि वह काली है या गोरी। ये जो परमात्मा की बातें करते हैं वे भी देखते हैं कि आदमी ब्राह्मण है या शूद्र। उस चर्चके पादरी ने कहा: 'मित्र, क्या करोगे मंदिर में आकर? जब तक मन शान्त नहीं, शुद्ध नहीं, तब तक यहां आकर भी क्या करोगे?' जमाना बदल गया है इसलिए पुरोहित ने अपनी भाषा बदल ली। पहले भी रोकता था वह। लेकिन पहले वह कहता था कि हठ शूद्र, यहां कहां तुझे प्रवेश? लेकिन अब जमाना बदल गया है इसलिए उसे अपनी भाषा भी बदलनी पड़ी। लेकिन हृदय उसका नहीं बदला है रोकता है वह अब भी। उसने यह नहीं कहा कि तू शूद्र है। अपवित्र है, यहां से

हट। उसने कहा कि मित्र, क्या करोगे यहां आकर? जब तक मन ही शान्त नहीं, शुद्ध नहीं तो परमात्मा को कैसे जानेगा? इसलिए, जा और पहले मन को पवित्र कर। यह बात उसने नीग्रो से कही। लेकिन सफेद चमड़ी के लोग जो आते थे उनमें से किसी को उसने यह नहीं कहा था। जैसे उन सबों के मन शांत ही थे। वह सीधा सादा नीग्रो वापस चला गया। पुरोहित हंसा होगा अपने मन में। सोचा होगा उससे न होगा मन पवित्र न आवेगा दुबारा यहां। और सच ही वह दुबारा नहीं आया लेकिन इसलिए नहीं कि उसका मन शांत न हो सका बल्कि इसलिए कि उसका मन शांत हो गया था। दिन आये और गये। वर्ष बीतने को आ गया था। तब एक दिन वह नीग्रो चर्च के पास से पुरोहित को गुजरता हुआ दिखाई पड़ा। वह तो आदमी जैसे दूसरा ही हो गया था। उसकी आंखों में एक आलौकिक आलोक आ गया था। और उसके आसपास जैसे शांति और संगीत का प्रभामंडल बन गया था। पुरोहित ने सोचा कि शायद वह चर्च में आ रहा है। और वह डरा भी। लेकिन नहीं, उसका भय निराधार था। उसने तो चर्च की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा था और वह आगे निकल गया था। तब पुरोहित दौड़ा

और उसे रोककर उसने पूछा: 'मित्र, फिर तुम दिखाई नहीं पड़े?' वह नीग्रो हंसने लगा और बोला: 'मेरे मित्र और मार्गदर्शक, तुम्हें बहुत बहुत धन्यवाद, तुम्हारी सलाह मान मैंने यह पूरा वर्ष बिताया है। मैं प्रतीक्षा में था कि मन शान्त हो तो मैं दुबारा तुम्हारे द्वार पर जाऊं। लेकिन बीती रात्रि स्वप्न में मुझे स्वयं प्रभु दिखाई पड़े और कहने लगे: पागल! उस चर्च में किसलिए जाना चाहता है? मुझसे मिलने? तो मैं तुझे बताये देता हूं कि दस साल से मैं स्वयं ही उस चर्च में प्रवेश की कोशिश कर रहा हूं, लेकिन वह पादरी मुझे भीतर घुसने ही नहीं देता है। और जहां मैं नहीं जा सका हूं वहां तू जा सकेगा यह असंभव है।

और मैं आपसे कहता हूं कि उस मंदिर में ही नहीं, परमात्मा किसी भी मंदिर में कभी प्रवेश नहीं पा सका है। क्योंकि, आदमी के बनाये हुए मंदिर आदमी से बड़े नहीं हो सके हैं। वे मंदिर इतने छोटे हैं कि परमात्मा के लिए उनमें अवकाश ही नहीं है।

वस्तुतः जिनके मन ही मंदिर नहीं हैं, उनके बनाये सब मंदिर व्यर्थ हैं।

वस्तुतः तो जिन्होंने उसे भीतर ही नहीं पा लिया है,

वे उसे बाहर कभी भी नहीं पा सकते हैं।

वह सबसे पहले उद्घाटित होता है स्वयं में। और फिर सर्व में। स्वयं के अतिरिक्त सर्व के लिए न कोई मार्ग है, न सेतु है। स्वयं ही है स्वयं के सर्वाधिक निकट। इसलिए दूर खोजने के पूर्व वहीं खोज लेना आवश्यक है। और जो उसे निकट में ही नहीं पाता है, वह उसे दूर में कैसे पा सकेगा? इसलिए मंदिरों में नहीं मन में ही वह जाना गया है और जाना जाता है।

इसलिए मंदिर और मस्जिद तो शिक्षा से नहीं जुड़ सकते हैं। न जुड़ने ही चाहिए। वैसा आग्रह ही बाहर का आग्रह है। और बाहर के समस्त आग्रह भीतर जाने में बाधा बनते हैं।

मैं सुनता हूं विद्यापीठों में मंदिरों के बनाये जाने की बातें तो मुझे हंसी आती है। क्या मनुष्य इतिहास से कोई भी सबक नहीं सीखता है?

मंदिर-मस्जिद वाले धर्मों ने क्या किया है और क्या नहीं किया है, क्या हमें यह ज्ञात नहीं है?

नहीं—धर्म के बाह्य क्रियाकांडों की जरा भी जरूरत नहीं है। वे व्यर्थ ही होते तो भी चल सकता था। वे तो अनर्थ भी हैं।

धर्म बाह्य में नहीं है।

इसलिए बाह्य की किसी भी भांति की प्रतिष्ठा अधर्म है।

यह सत्य दो और दो चार जैसा बिलकुल स्पष्ट हो जाना अत्यंत आवश्यक है।

परमात्मा का भी मंदिर है लेकिन वह ईंट-पत्थरों से नहीं बनता है। और ईंट-पत्थरों से जो बनता है, वह हिंदू का हो सकता है, या ईसाई का या जैन का, या बौद्ध का, लेकिन परमात्मा का नहीं। जो 'किसी का' है वह इस कारण ही 'उसका' नहीं है। उसके मंदिर की कोई सीमा नहीं हो सकती है। क्योंकि वह असीम है। और उसके मंदिर का कोई विशेषण नहीं हो सकता है क्योंकि वह सर्व है।

निश्चय ही ऐसा मंदिर चेतना का ही हो सकता है।

वह मंदिर आकाश में नहीं, आत्मा में है।

और उसे बनाना भी नहीं है। वह तो है। सदा से है। बस, उसे उघाड़ना ही है।

इसलिए, शिक्षा से संबंधित धर्म, मंदिर-मस्जिद बनाने वाला धर्म नहीं हो सकता है। वह तो होगा, स्वयं में छिपे मंदिर के उद्घाटन का धर्म। अंतस् में जो है, उसे

ही जानना है। क्योंकि उसका जानना ही जीवन में एक आमूल क्रांति बन जाती है।

सत्य को जानना ही जीवन का रूपांतर है।

सत्य का, अंतस् के सत्य का या परमात्मा का उद्घाटन न करने वाली शिक्षा एकदम अधूरी और घातक है। आजतक की शिक्षा की असफलता का कारण भी यही अधूरापन है। जिस युवक को हम अभी विश्वविद्यालयों के बाहर भेजते हैं, वह बिलकुल ही अधूरा होता है। उसे जीवन में जो केन्द्रीय है, उसका कोई पता ही नहीं होता है। जीवन में जो भी सत्य है, शिव है, सुन्दर है, उससे उसकी कोई भी पहचान नहीं होती है। वह केवल क्षुद्र को ही सीखकर आता है और उसमें ही जीता है। निश्चय ही ऐसा जीना आनन्द नहीं लाता है और क्रमशः एक अर्थ-हीनता और रिक्तता और व्यर्थता, चित्त को घेरने लगती है। जीवन की धारा इस व्यर्थता के मरुस्थल में खो जाती है। और परिणाम में पीछे एक अंधा क्रोध सबके प्रति छूट जाता है। इस क्रोध को ही मैं अधार्मिक मन का परिणाम कहता हूं। धार्मिक मन का फल है धन्यता और धन्यवाद का भाव। वह समस्त के प्रति कृतज्ञता है। लेकिन वह तो तभी हो सकता है जब जीवन आनन्द

को पा सके और पूर्णता को। और यह पूर्णता और यह आनंद स्वयं को जाने और पाये बिना असंभव है।

इसलिए, सम्यक् शिक्षा धर्मविहीन नहीं हो सकती है क्योंकि जीवन का आधार जो चेतना है, जो अंतःकरण है, जो आत्मा है, उसे जानना, उससे परिचित होना, जीवन को उसकी पूर्णता तक ले जाने के लिए अपरिहार्य है।

धर्म क्या है?

मनुष्य के अंतःकरण की शिक्षा ही तो धर्म है।

फिर हम क्या सिखायें? क्या हम धर्मशास्त्र पढ़ायें? धर्म सिद्धान्त सिखायें? क्या हम बच्चों को बतायें कि ईश्वर है—आत्मा है, स्वर्ग है, नर्क है, मोक्ष है?

नहीं बिलकुल नहीं। ऐसी कोई भी शिक्षा धर्म की शिक्षा नहीं है।

ऐसी शिक्षा भी मनुष्य को भीतर नहीं ले जाती है।

ऐसी शिक्षा भी मनुष्य का पक्षपात ही बन जाती है।

ऐसी शिक्षा भी शब्दों मात्र की सिखावन है। और इससे उस झूठे ज्ञान का जन्म होता है जो कि अज्ञान से भी ज्यादा खतरनाक है।

ज्ञान तो केवल वही है जो कि स्वानुभूति से आता है।

दूसरों से सीखा ज्ञान, ज्ञान नहीं है।

सीखा हुआ ज्ञान, ज्ञान का भ्रम है।

और यह भ्रम अज्ञान को छिपा देता है और ज्ञान की खोज बन्द हो जाती है।

अज्ञान का स्पष्ट बोध शुभ है क्योंकि वह ज्ञान की खोज में ले जाता है।

और सीखे हुये ज्ञान को ज्ञान जान लेना बहुत खतरनाक है। क्योंकि उससे मिली तृप्ति पैरों को बांध लेती है और आगे की यात्रा अवरुद्ध हो जाती है।

मैं एक अनाथालय में गया था। वहां कोई सौ बच्चे थे। व्यवस्थापकों ने मुझसे कहा कि हम यहां धर्म की शिक्षा भी देते हैं। और फिर उन्होंने बच्चों से प्रश्न भी पूछे। पूछा गया: 'ईश्वर है?' तो उन छोटे-छोटे बच्चों ने हाथ उठाकर हिलाये और कहा: 'ईश्वर है।' पूछा गया: 'ईश्वर कहां है?' तो उन्होंने आकाश की ओर इशारे किये। 'और आत्मा कहां है?' तो उन्होंने अपने हाथ अपने हृदयों पर रखे और कहा: 'यहां!' मैं यह सब नाटक देखता था। व्यवस्थापक बड़े प्रसन्न थे। उन्होंने कहा: 'आप भी कुछ पूछिये?' मैंने एक छोटे से बच्चे से पूछा: 'हृदय कहां है?' वह यहां वहां देखने लगा और फिर बोला: 'यह तो हमें बताया ही नहीं गया है।'

धर्म की भी क्या ऐसी कोई शिक्षा हो सकती है?

और सीखी हुई बातें दुहराना भी क्या जानना है?

काश, बात इतनी आसान ही होती तो क्या दुनियां कभी की धार्मिक न हो गई होती?

मैंने उस अनाथालय के व्यवस्थापकों और शिक्षकों से कहा था कि आप इन बच्चों को जो सिखा रहे हैं, वह धर्म तो है ही नहीं, उलटे उसके कारण ये जीवन भर के लिए रटे-रटाचे तोते बन जायेंगे और जो व्यक्ति यांत्रिक रूप से किन्हीं बातों को दुहराना सीख जाता है, उसकी बुद्धि को सांघातिक नुकसान पहुंचता है, फिर जीवन जब भी इनके सामने प्रश्न खड़े करेंगे—ऐसे प्रश्न जो इन्हें सत्य की खोज में ले जानेवाले हो सकते थे तो वे सीखे हुये उत्तर दुहरा लेंगे और चुप हो जायेंगे। आपकी सिखावन इनकी जिज्ञासा की हत्या है। ये न आत्मा को जानते हैं और न परमात्मा को और इनके हृदय पर गये हाथ कितने झूठे हैं? और इस झूठ की शिक्षा को आप धर्म की शिक्षा कहते हैं?

फिर मैंने उनसे यह भी पूछा था कि आपका स्वयं का जानना भी तो ऐसा ही जानना नहीं है? आप भी तो कहीं सीखी हुई बातें ही नहीं दुहरा रहे हैं? और

वे भी वैसे ही यहां-वहां देखते रह गये थे, जैसा कि वह छोटा-सा बच्चा हृदय के सम्बन्ध में पूछने पर रह गया था। आह! पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम थोथे शब्द सिखाये चले जाते हैं, और उसे ज्ञान समझते हैं। सत्य भी क्या सिखाया जा सकता है? सत्य भी क्या दुहराया जा सकता है?

पदार्थ के जगत् में तो सिखाई हुई बातों का कुछ मूल्य है क्योंकि जो बाहर है उसके संबंध में सूचनाओं से ज्यादा ज्ञान संभव नहीं है। लेकिन, परमात्मा के जगत् में उनका कोई भी अर्थ और मूल्य नहीं है, क्योंकि वह जगत् सूचनाओं का नहीं, अनुभूतियों का है।

अनुभूति की जा सकती है, उसमें हुआ और जिया जा सकता है, लेकिन उसे सीखा नहीं जा सकता है। उसे सीखना तो मात्र अभिनय बन जाता है। प्रेम, क्या कोई सीख सकता है? और यदि कोई सीख कर करे—तो वह प्रेम नहीं, बस प्रेम का अभिनय ही तो कर सकेगा। परमात्मा के संबंध में सीखी गई बातें, सिद्धान्त, पूजा और प्रार्थना—सब इसलिए अभिनय बन गये हैं। जब प्रेम ही नहीं सीखा जा सकता है तो प्रार्थना कैसे सीखी जा सकती है? प्रार्थना तो प्रेम का ही गहनतम रूप है। और जब प्रेम ही नहीं सीखा जा सकता है तो परमात्मा

कैसे सीखा जा सकता है? प्रेम की पूर्णता ही तो परमात्मा है।

सत्य अज्ञात है और इसलिए जो ज्ञात है—सिद्धान्त, शास्त्र, शब्द उन सबसे उस तक नहीं पहुंचा जा सकता है।

अज्ञात में प्रवेश के लिये तो ज्ञात को छोड़ ही देना पड़ता है।

ज्ञात से मुक्त होते ही वह सामने आ जाता है जो कि अज्ञात है।

इसलिए धर्म सीखने की बजाय अन-सीखना ही ज्यादा है।

वह स्मरण की बजाय विस्मरण ही ज्यादा है।

चित्त पर कुछ लिखना नहीं है, वरन् सब लिखा हुआ पोंछ देना है।

क्योंकि चित्त जहां शब्दों से शून्य होता है, वहीं वह सत्य के लिए दर्पण बन जाता है।

चित्त को सिद्धान्तों का संग्रह नहीं, सत्य का दर्पण बनाना है।

और तब निश्चय ही धर्म शिक्षा का अर्थ शिक्षा कम और साधना ज्यादा हो जाता है।

धर्म साधना की तैयारी ही धर्म की शिक्षा है।

धर्म की शिक्षा और विषयों की शिक्षा जैसी नहीं है। इसलिए उसकी परीक्षा भी नहीं हो सकती है। उसकी परीक्षा तो होगी जीवन में, जीवन ही उसकी परीक्षा है।

एक गुरुकुल से तीन युवक शिक्षा लेकर वापस लौटते थे। उनकी सभी विषयों में परीक्षा ले ली गई थी। केवल 'धर्म' रह गया था। और वे हैरान थे, कि धर्म की परीक्षा क्यों नहीं ली गई? और अब तो परीक्षा का कोई सवाल ही न था। वे उत्तीर्ण भी घोषित कर दिये गये थे। वे गुरुकुल से थोड़ी ही दूर गये होंगे कि सूर्य ढलने लगा था और अब रात्रि उतर रही थी। एक झाड़ी के पास पगडंडी पर बहुत से कांटे पड़े थे। पहला युवक छलांग लगाकर कांटों को पार कर गया। दूसरा युवक पगडंडी छोड़ किनारे से निकलकर उनके पार हो गया। लेकिन तीसरा रुक गया और उसने उन कांटों को बीनकर झाड़ी में डाला और तब आगे बढ़ा। शेष दो ने उससे कहा कि यह क्या करते हो? रात बढ़ रही है और हमें शीघ्र ही वन के पार हो जाना है। वह हंसा और बोला 'इस-लिए इन्हें दूर करता हूं कि रात उतरने को है और हमारे बाद जो भी इस राह पर आयेगा उसे कांटे दिखाई नहीं पड़ सकेंगे। वे यह बात करते ही थे कि उनके आचार्य

झाड़ी के बाहर आ गये। वे झाड़ी में छिपे थे। और उन्होंने तीसरे युवक को कहा: 'मेरे बेटे, तू जा। तू धर्म की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गया है।' और शेष दो युवकों को लेकर वे गुरुकुल वापस लौट गये। उनकी धर्म की शिक्षा अभी पूरी नहीं हुई थी।

जीवन की क्या परीक्षा है सिवाय जीवन के? और धर्म तो जीवन ही है।

इसलिए जो मात्र परीक्षायें पास करके समझते हैं कि वे शिक्षित हो गये—वे भूल में हैं।

वस्तुतः तो जहां परीक्षायें समाप्त होती हैं, वहीं असली शिक्षा शुरू होती है क्योंकि वहीं जीवन शुरू होता है।

फिर धर्म की शिक्षा के लिए हम क्या करें?

धर्म का बीज तो प्रत्येक में है। क्योंकि सत्य प्रत्येक में है—क्योंकि जीवन प्रत्येक में है। इस बीज के विकास के लिए अवसर जुटाने हैं—और उसके विकास-पथ की बाधायें दूर करनी है। यह हो सके तो फिर बीज तो स्वयं अपनी शक्ति से—अपनी जीवन्तता से अंकुर बन जाता है। उसे अंकुर बनाना थोड़े ही पड़ता है। और अंकुर पौधा बन जाता है। और पौधा पत्तों से, फूलों से, फलों से भर जाता है। हम सिर्फ अवसर जुटा देते हैं और फिर शेष सब

अपने आप हो जाता है।

धर्म की शिक्षा क्या होगी? हां, धर्म का बीज विकसित हो सके शिक्षालय इसके लिए अवसर जरूर ही जुटा सकते हैं।

और उस बीज के विकास-पथ की बाधायें दूर कर सकते हैं।

इस अवसर जुटाने में तीन तत्त्व बड़े महत्त्वपूर्ण हैं।

पहला तत्त्व तो है साहस, व्यक्ति में अदम्य साहस चाहिए। सत्य की खोज में या परमात्मा के आरोहण में साहस अत्यंत प्राथमिक है। हिमालय चढ़ने में या प्रशांत की गहराइयों में जाने के लिए जो साहस चाहिए परमात्मा की खोज में उससे भी बड़े और गहरे साहस की जरूरत है। क्योंकि न तो उससे ऊंचा कोई शिखर है और न उससे गहरा कोई सागर है।

लेकिन, तथाकथित धार्मिक व्यक्ति साहसी नहीं होते हैं। वस्तुतः उनकी धार्मिकता उनकी भीरुता का ही आवरण होती है। उनके धर्म और उनके भगवान के पीछे उनका भय ही होता है। और मैं कहना चाहता हूं कि भयभीत चित्त कभी धार्मिक हो ही नहीं सकता है। क्योंकि अभय तो धर्म का प्राण है।

साहस आता है अभय से। इसलिए पहली बात, भय न सिखायें—किसी भी भांति का भय न सिखायें और दूसरी बात: अभय में दीक्षा दें! आह। अभय कैसी शक्ति है—अभय कैसी दीप्ति है—अभय कैसा तेज है? अभय की चट्टान पर ही तो धर्म का भवन खड़ा होता है।

लेकिन हमारे तथाकथित धर्म भय का ही शोषण करते रहे हैं। और इसीलिए तो आज तक धर्म का भवन खड़ा नहीं हो पाया है। भय की रेत पर भी कहीं भवन बने हैं? और बन भी जावें तो वे कितनी देर टिक सकते हैं?

मैं मंदिरों में, मस्जिदों में, गिरजा में जाकर देखता हूं तो पाता हूं कि वहां भय से कांपते हुये लोग इकट्ठे हैं। उनकी प्रार्थनायें उनके भय के ही साकार रूप हैं और जिस भगवान के सामने वे घुटने टेके खड़े होते हैं, वह उनके भीतर के भय का ही प्रक्षेपण है। इसीलिए दुःख में आदमी भगवान की तरफ भागता है क्योंकि तब वह ज्यादा भयभीत होता है। बुढ़ापे में आदमी भगवान की तरफ भागता है क्योंकि तब नजदीक आती मृत्यु उसे बहुत भयभीत करती है। मंदिरों में जाकर देखिये—चर्चों में जाकर खोजिये, वहां आपको ऐसे व्यक्ति ही दिखाई

पडेंगे जो कि या तो मर गये हैं या मरने के करीब हैं।

ऐसा भय हमें नहीं सिखाना है। सिखाना है अभय, और तभी धर्म जीवितों का धर्म हो सकता है।

अभय सिखाने में भय क्या है?

एक भय है कि कहीं युवक ईश्वर को ही इन्कार न कर दें। यह भय इसीलिए है कि हमारा ईश्वर भय पर ही खड़ा है।

किंतु ऐसे ईश्वर को अस्वीकार कर देने में बुराई क्या है?

वस्तुतः तो उसे स्वीकार करना ही बुरा है।

मैं तो अभय को उस सीमा तक लाने के लिये ही उत्सुक हूं कि उस परमात्मा को भी अस्वीकार किया जा सके जिसे कि हम नहीं जानते हैं। असत्य का अस्वीकार जहां नहीं है, वहां अभय ही नहीं है। और जहां असत्य का अस्वीकार नहीं है, वहां सत्य की खोज भी कैसे हो सकती है?

अभय से आई नास्तिकता को मैं आस्तिकता का ही दूसरा पहलू कहता हूं।

ऐसी नास्तिकता सच्ची आस्तिकता की अनिवार्य सीढी बनती है।

जो व्यक्ति नास्तिक ही नहीं बन सकता वह आस्तिक भी कैसे बनेगा? आस्तिकता तो नास्तिकता से बहुत कठिन है।

और जो नास्तिक होने से भयभीत है, उसकी आस्तिकता भी झूठी ही होगी। वह नास्तिक न हो जाये, इसी भय से ही आस्तिक होता है। ऐसी आस्तिकता का मूल्य ही क्या हो सकता है?

मैं भय पर आधारित आस्तिकता से अभय पर प्रतिष्ठित नास्तिकता का ही आदर करता हूं, क्योंकि, जहां भय है, वहां धर्म कभी भी नहीं हो सकता है और जहां अभय है, वहां धर्म का द्वार है।

अभय से जन्मी नास्तिकता से गुजरना एक आनंद है, एक अनुभव है। उससे आतमा निश्चित ही बलवान होती है।

और जो नास्तिक होने के पहले ही आस्तिक हो जाता है, उसकी आस्तिकता इसीलिए झूठी होती है क्योंकि उसके भीतर का नास्तिक सदा के लिए ही भीतर छिपा रह जाता है।

लेकिन जो अपने नास्तिक को जी लेता है वह उसका अतिक्रमण भी कर जाता है और उससे मुक्त भी हो जाता है।

नास्तिकता का अर्थ है अस्वीकार का काल। यदि समाज ईश्वर और धर्म विरोधी है, तो इसके अस्वीकार से गुजरना भी नास्तिकता है। स्वीकृत और माने हुये के अस्वीकार से गुजरना नास्तिकता है। व्यक्तित्व की प्रौढ़ता के लिए यह काल अत्यन्त मूल्यवान और लाभप्रद है। जो इससे नहीं गुजरता है, वह सदा के लिए अप्रौढ रह जाता है।

यह (गुजरना) साहस और अभय से ही हो सकता है।

और सबसे बड़ा साहस क्या है? सबसे बड़ा साहस है झूठे ज्ञान को अस्वीकार करने का साहस। यदि आपको ज्ञात नहीं है कि ईश्वर है तो मानने को राजी मत होना। चाहे कोई कितना ही झुकाये, स्वर्ग जाने का प्रलोभन दे या नर्क जाने के भय से भयभीत करे, तो भी उसे मानने को राजी मत होना जो कि आपको ज्ञात नहीं है। स्वर्ग खोने या नर्क जाने को राजी हो जाना अच्छा है लेकिन भयभीत होना अच्छा नहीं। और जिसमें इतना साहस होता है, वही और केवल वही सत्य की खोजने में समर्थ हो पाता है। भयभीत चित्त कर ही क्या सकता है? वह तो अपने भय के कारण ही कुछ भी मानने को राजी हो जाता है। आस्तिक समाज में वह आस्तिक हो जाता है। और सोवियत रूस में हो, तो नास्तिक हो

जाता है। वह तो समाज का एक मृत अंग ही होता है। वह जीवन्त व्यक्ति नहीं होता है। क्योंकि व्यक्तित्व में जीवन्तता तो केवल अभय से ही आती है।

एक व्यक्ति कल ही मुझे मिले थे। वे कहने लगे: 'मैं तो आत्मा की अमरता में विश्वास करता हूं।' और उनके चेहरे पर सब तरह से मृत्यु का भय लिखा हुआ था! मैंने उनसे कहा: 'यह विश्वास कहीं मृत्यु के भय के कारण ही तो नहीं है? क्योंकि जो लोग मृत्यु से भयभीत हैं, उन्हें यह जानकर बड़ी सांत्वना मिलती है कि आत्मा अमर है।' यह सुन वे कुछ परेशान हो आये और पूछने लगे थे कि क्या आत्मा अमर नहीं है? मैंने कहा: 'नहीं। यह सवाल नहीं है। आत्मा की अमरता न अमरता का सवाल नहीं है। सवाल यह है कि जो मृत्यु से भयभीत है क्या वह आत्मा को खोज या जान सकता है? सत्य की खोज के लिए अभय अत्यंत आवश्यक है।

यही मैं आपसे भी कहना चाहता हूं। जो व्यक्ति मृत्यु से जितना भयभीत होता है, वह आत्मा की अमरता में उतना ही विश्वास करने लगता है। इस विश्वास का अनुपात और तीव्रता उतनी ही होती है जितना कि उसका भय होता है। और ऐसा व्यक्ति क्या जीवन के सत्य के

प्रति आंखें खोलने को राजी हो सकता है?

सत्य का मार्ग अभय के अतिरिक्त और कहीं से भी नहीं जाता है।

आत्मा अमर्त्य है, यह भयभीत चित्त का विश्वास नहीं, वरन् पूर्ण अभय चेतना का साक्षात्कार है।

भयभीत चित्त सत्य नहीं, सुरक्षा चाहता है।

भयभीत चित्त सत्य नहीं, संतोष चाहता है।

और तब जो धारणा भी सुरक्षा और संतोष देती मालूम पड़ती है, वह उसे ही पकड़ लेता है।

और धारणायें—कोरी मान्यतायें—अननुभूत विश्वास भी क्या सुरक्षा दे सकते हैं, संतोष दे सकते हैं?

सत्य के अतिरिक्त और कोई सुरक्षा नहीं है। संतोष नहीं है, शांति नहीं है।

और सत्य को पाने के लिये जरूरी है कि चित्त झूठी सुरक्षाओं और संतोषों को छोड़ने का साहस कर सके। इसलिए साहस को मैं सबसे बड़ा धार्मिक गुण कहता हूं।

एक धर्मगुरु कुछ बच्चों को साहस के सम्बन्ध में समझा रहा था। बच्चों ने कहा: 'कोई उदाहरण दें।' वह धर्मगुरु बोला: 'मान लो, एक पहाड़ी सराय के एक ही कमरे में १२ बच्चे ठहरे हुए हैं। रात्रि बहुत सर्द है। और जब

वे दिनभर की यात्रा के बाद थके-मांदे सोने जाते हैं, तो ११ बच्चे तो कम्बल ओढ़कर अपने-अपने बिस्तर में घुस जाते हैं। लेकिन एक लड़का उस सर्द रात्रि में भी दिवसांत की अपनी प्रार्थना करने को कमरे के एक कोने में घुटने टेककर बैठ जाता है। इसे मैं साहस कहता हूं। क्या यह साहस नहीं है?' और तभी एक बच्चा उठा और उसने कहा: 'मान लें, एक सराय में १२ पादरी ठहरे हुए हैं। ११ पादरी रात्रि में सोने के पहले घुटने टेककर प्रार्थना करने बैठ गये हैं। लेकिन एक पादरी कम्बल ओढ़कर अपने बिस्तर में सो जाता है! क्या यह भी साहस नहीं है?'

मैं नहीं जानता कि उस पादरी पर फिर क्या गुजरी —या उसने क्या कहकर उन बच्चों से अपनी जान छुड़ाई। लेकिन एक बात मैं अवश्य ही जानता हूं कि स्वयं होने की शक्ति का नाम ही साहस है। भीड़ से मुक्त व्यक्ति होने की क्षमता का नाम ही साहस है।

व्यक्ति को व्यक्ति बना देना ही उसे साहस देना है।

साहस स्वयं पर विश्वास है।

साहस आत्मविश्वास है।

और साहस के साथ सिखायें—विवेक—जागरूकता।

धर्म — शिक्षा में वह दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

विवेक न हो तो साहस खतरनाक भी हो सकता है। फिर वह आत्मविश्वास न होकर विक्षिप्त अहंकार भी हो सकता है।

साहस शक्ति है। विवेक आंख है। साहस चलाता है। विवेक देखता है।

सुनी है न वह अंधे और लंगड़े की कहानी। जंगल में लग गई थी आग। और एक अंधे और लंगड़े को भागकर अपना जीवन बचाना था। अंधा भाग सकता था। लेकिन देख नहीं सकता था। और आग लगे जंगल में बिना आंखों के भागने का मृत्यु के अतिरिक्त और क्या अर्थ था? लंगड़ा देख सकता था, लेकिन भाग नहीं सकता था। और बिना पैरों के देखने वाली आंखों का मूल्य ही क्या था? और तभी उन्हें एक तरकीब सूझी और वे दोनों मृत्यु से बच सके। क्या थी उनकी तरकीब? बहुत सरल — एकदम सीधी। अंधे ने लंगड़े को अपने कंधे पर बैठा लिया था।

वह कथा अंधे और लंगड़े की नहीं — साहस और विवेक की ही कथा है।

अज्ञान के अग्नि लगे जंगल से जीवन को बचाना है,

तो साहस के कंधों पर विवेक को बैठाना जरूरी है।

साधारणतः मनुष्य मूर्च्छित ही जीता है। जैसे वह एक नींद में हो। यह नींद स्व-विस्मरण की है। स्व-स्मरण से — स्वयं के प्रति सचेतन और जागरूक होने से वह नींद टूटती है और विवेक का जन्म होता है।

स्व-स्मरण, स्वयं के प्रति सम्यक् स्मृति — आत्मबोध की दिशा में बच्चों को शिक्षित किया जा सकता है।

चेतना का तीर सामान्यतः बाहर की ओर है। वह जो स्वयं के बाहर है उसके प्रति ही केवल हम जाग्रत हैं, इस तीर को स्वयं की ओर भी किया जा सकता है। तब जिसका बोध है, वही हमारी सत्ता है। और उसके बोध के साथ ही वह घटना घटित होती है, जो कि अंधेरे के निद्रित जीवन से चैतन्य के जाग्रत जीवन में ले जाती है।

लेकिन धर्म के नाम पर जो प्रार्थनायें और भजन कीत्तनादि चलते हैं, वे स्व-स्मरण तो नहीं, उलटे आत्म-विस्मृति लाते हैं। उनका सुख निद्रा और बेहोशी का सुख है। वे सब मानसिक मादकतायें हैं।

मैं निद्रा, बेहोशी या तन्द्रा में नहीं, वरन् परिपूर्ण होश और जागृति को ही धर्म की साधना कहता हूं।

इस होश के लिये विद्यापीठ भूमिका और अवसर बन

सकते हैं।

शरीर के तल पर, मन के तल पर और आत्मा के तल पर जागरूकता सिखाई जा सकती है।

प्रत्येक कार्य को सतत् होश से करने की विधि क्रमशः जीवन को चेतना से भर देती है।

और प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया के प्रति सचेत और साक्षीर हने की साधना चित्त को अपूर्व रूप से जाग्रत करने वाली है।

और, प्रतिपल उसका भी बोध जो कि मैं हूं, अन्त में आत्म-जागरण बन जाता है।

और तीसरा सूत्र है: मौन।

शब्द—शब्द और शब्द चित्त को बहुत अशांति और तनाव से भर देते हैं। विचार, विचार और विचार और —मन सारा विश्राम खो देता है।

मौन का अर्थ है: मन का विश्राम।

मौन को जानने और जीने से ही मन सदा ताजा और युवा बना रहता है।

और मौन में—पूर्ण मौन में ही चित्त एक दर्पण बन जाता है जिसमें कि सत्य प्रतिफलित होता है।

अशांत चित्त तो जान ही क्या सकता है?

वह तो खोज ही क्या सकता है? वह तो स्वयं में ही इस भांति उलझ जाता है कि किसी और दिशा में उन्मुख ही नहीं हो सकता है।

सत्य के लिये तो चाहिये गहरी शांति, समग्र मौन, निर्विचार चित्त की पूर्ण विश्राम स्थिति। ऐसी चित्तदशा का नाम ही ध्यान है।

बच्चों को चित्त विश्राम की दिशा में अग्रसर किया जा सकता है।

चित्त विश्राम का आधारभूत नियम है: चित्त को समग्ररूप से शिथिल और मुक्त छोड़ देना। जैसे कोई नदी में बहता हो—तैरता नहीं, बहता हो—ऐसे ही चित्त की लहरों पर बहना, बस बहना। तैरना जरा भी नहीं, ऐसा प्रयासरहित प्रयास उस शांति में ले जाता है जिससे कि मनुष्य बिलकुल ही अपरिचित है।

जीवन में जो भी अर्थ और आनन्द छिला है वह सब इस शांति में प्रगट हो जाता है।

और जीवन में जो भी सत्य है, वह उपलब्ध हो जाता है।

वस्तुतः तो वह उपलब्ध ही था लेकिन अशांति में दिखाई नहीं पड़ता था और शांति में अनावृत्त होकर

स्वयं के समक्ष आ जाता है।

धर्म की शिक्षा साहस, विवेक और शांति की शिक्षा है।

धर्म की शिक्षा अभय, जागरूकता और निर्विचार मौन की शिक्षा है।

और, ऐसी शिक्षा निश्चय ही एक नयी मनुष्यता की आधारशिला बन सकती है।

मैं आशा करता हूं कि मैंने जो कहा है उस पर आप सोचेंगे। मेरी बातें मान नहीं लेना है उन पर चिन्तन और मनन करना है। उन पर निष्पक्ष विचार करना है। और उन्हें प्रयोग की कसौटी पर कसकर देखना है। सत्य तो हर अग्नि परीक्षा से और भी स्वर्ण होकर बाहर निकल आता है।

❁